

संवर्ग-1 : जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

प्रस्तावना

दर्शन का प्रारम्भ अस्तित्व की जिज्ञासा से होता है। जीव और जगत् के अस्तित्व को जानने की मनोवृत्ति ने दर्शन जगत् में विभिन्न आयामों का उद्घाटन किया है। जैन दर्शन भारतीय चिन्तन और आध्यात्मिक जीवनशैली का प्रतिनिधि दर्शन है। इसके सिद्धान्त शाश्वत और चिरनवीन है, जो समसामयिक तथा प्रासंगिकता की कसौटी पर सदा खरे उतरे हैं। ये प्राचीन काल में जितने आवश्यक थे, उतने ही आधुनिक युग में भी हैं। इसका कारण यह है कि जैन संस्कृति का दर्शन पक्ष जितना समृद्ध है, उतना व्यावहारिक भी है। इसके सिद्धान्त मौलिक और अनेक विलक्षणताओं को अपने आप में समेटे हुए हैं। जैन संस्कृति का मूल आधार आचार में अहिंसा, व्यवहार में अपरिग्रह तथा विचार में अनेकान्त है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त—ये तीन जैन दर्शन की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो समाज में व्याप्त हिंसा, संग्रह की मनोवृत्ति और अपने मत का दुराग्रह रूप जो समस्याएँ हैं, उनका समाधान करती है।

जैन आचार का मूल आधार आत्मा है। संसारी अवस्था में कर्मों से बंधी होने के कारण उसके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। सही दिशा में पुरुषार्थ करके व्यक्ति अपने अशुभ कर्मों को शुभ में बदल भी सकता है। जैन दर्शन हर घटना का मूल कारण कर्म को ही नहीं मानता, पाँच समवाय को मानता है। इन पाँच कारणों में कभी कोई प्रमुख तो कोई गौण हो सकता है। प्रस्तुत संवर्ग की छः इकाइयों में जैन दर्शन के निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन किया जा रहा है—

इकाई-1 : अहिंसा,

इकाई-2 : अपरिग्रह,

इकाई-3 : अनेकान्त,

इकाई-4 : आत्मवाद,

इकाई-5 : कर्मवाद,

इकाई-6 : पाँच समवाय।

उद्देश्य

इस संवर्ग का अध्ययन करने के बाद आप—

- ◆ अहिंसा के स्वरूप एवं प्रकारों को समझ सकेंगे।
- ◆ हिंसा के कारणों को जान सकेंगे।
- ◆ परिग्रह के प्रकार एवं कारण से परिचित हो सकेंगे।
- ◆ परिग्रह-परिमाण के औचित्य को समझ सकेंगे।
- ◆ अनेकान्त को समझ सकेंगे।
- ◆ विरोधी धर्मों की सापेक्षता, सह-अस्तित्व एवं समन्वय को जान सकेंगे।
- ◆ आत्मा के स्वरूप एवं भेद-प्रभेदों का ज्ञान कर सकेंगे।
- ◆ कर्म एवं कर्म-बंधन के कारणों को जान सकेंगे।
- ◆ कर्मों में परिवर्तन की प्रक्रिया से अवगत हो सकेंगे।
- ◆ पाँच समवाय को समझ सकेंगे।

संरचना

- 1.1 अहिंसा
- 1.2 हिंसा की परिभाषा
- 1.3 हिंसा का स्वरूप
- 1.4 हिंसा के कारण
- 1.5 हिंसा के भेद
- 1.6 अहिंसा की परिभाषा
- 1.7 अहिंसा के प्रकार
- 1.8 अहिंसा का पालन क्यों
- 1.9 सारांश
- 1.10 बोध-प्रश्न

1.1 अहिंसा

मानव जीवन के दो आधार स्तम्भ हैं—आचार और विचार। आचार जीवन का व्यावहारिक पक्ष है और विचार सैद्धान्तिक। आदमी जैसा सोचता है, वैसा करता है और जैसा करता है, वैसा सोचता भी है। आचार और विचार—दोनों एक-दूसरे पर आधारित हैं। जैन दर्शन की आचार-मीमांसा अहिंसा पर आधारित है। **अहिंसा परमो धर्मः** उनका मुख्य घोष है। अहिंसक आचार-विचार में ही मानव का विकास निहित है। सत्य, अचौर्य आदि व्रत अहिंसा के ही पोषक हैं। अहिंसा को सर्वभूतक्षेमंकरि और मातृ-स्थानीय माना गया है। जैन आचार-विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत हैं। अतः अच्छे आचार का पालन करने के लिए अहिंसा के स्वरूप को समझना आवश्यक है और अहिंसा को समझने के लिए सबसे पहले हिंसा के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

1.2 हिंसा की परिभाषा

तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने हिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा है—‘**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**’ अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है, वह हिंसा है। जैन दर्शन में दस प्राण माने गए हैं, यथा—श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, चक्षुरिन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण, स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, मनोबल प्राण, वचनबल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुष्य प्राण। श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियों का जो बाहरी रूप है, उसे द्रव्यप्राण कहते हैं और उनके भीतर सुनने, देखने आदि की जो क्षमता है, उसे भावप्राण कहते हैं। इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण का घात करना हिंसा है। हिंसा की उपर्युक्त परिभाषा से यह भी स्पष्ट होता है कि हिंसा में सर्वप्रथम मन का व्यापार होता है, फिर वचन का और फिर काय का। प्रमादवश व्यक्ति के मन में प्रतिशोध की भावना जागती है, जो हिंसा करने के उद्देश्य को जन्म देती है, फिर वह कष्टदायक वचन का प्रयोग करता है और यदि इससे भी आगे बढ़ता है तो जिसके प्रति उसके मन में बुरा भाव जागृत हुआ था, उस जीव का प्राणघात करता है।

1.3 हिंसा का स्वरूप

हिंसा की परिभाषा से स्पष्ट है कि हिंसा के दो रूप होते हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। मन में किसी के प्रति राग-द्वेष का भाव आना या किसी प्राणी को मारने का संकल्प करना भावहिंसा है। जहां किसी को मारने का मन में संकल्प नहीं किया जाता किन्तु अनायास किसी के प्राणों का नाश हो जाता है, वहां द्रव्यहिंसा है। इस प्रकार मन में हिंसा के भाव आना भावहिंसा है तथा भावहिंसा के परिणामस्वरूप जो भी घटनाएँ घटती हैं, वे द्रव्यहिंसा की कोटि में आती हैं।

जैनदर्शन में भावहिंसा और द्रव्यहिंसा को लेकर हिंसा के चार विकल्प किये गए हैं—

1. भावहिंसा और द्रव्यहिंसा
2. भावहिंसा पर द्रव्यहिंसा नहीं
3. भावहिंसा नहीं पर द्रव्यहिंसा
4. न भावहिंसा और न द्रव्यहिंसा।

इन चारों विकल्पों को एक उदाहरण से समझ सकते हैं।

पहले विकल्प का उदाहरण—जैसे कोई व्यक्ति सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा हाथ में लेता है और सर्प को मार डालता है। यहाँ सर्प को मारने का उद्देश्य भावहिंसा और सर्प को मार डालना द्रव्यहिंसा है।

दूसरे विकल्प का उदाहरण—यदि किसी व्यक्ति ने सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा उठाया पर सर्प भाग गया, सर्प का प्राणघात वह नहीं कर पाया। यहाँ भावहिंसा है पर द्रव्यहिंसा नहीं।

तीसरे विकल्प का उदाहरण—यदि कोई व्यक्ति कटे हुए धान के पौधों को पीट रहा है और संयोगवश उसके पीटने से पौधों के नीचे बैठा हुआ सर्प अनजाने में चोट खाकर मर जाए तो वहाँ पर भावहिंसा नहीं पर द्रव्यहिंसा है। क्योंकि धान पीटने वाले व्यक्ति के मन में सर्प को मारने की कोई भावना नहीं थी।

चौथे विकल्प का उदाहरण—यदि कोई व्यक्ति सर्प को देखकर यह सोचता है कि यह भी एक प्राणी है अतः स्वच्छन्द विचरण कर रहा है। उसे न तो मारने की सोचता है और न मारता है तो यहाँ न भावहिंसा है और न द्रव्यहिंसा है।

सामान्यतया द्रव्यहिंसा को ही हिंसा माना जाता है। मन में भले ही बुरे विचार हैं, मारने का संकल्प है पर जब तक वह किसी को शारीरिक हानि नहीं पहुंचाता, तब तक वह हिंसा करने का दोषी नहीं समझा जाता। किन्तु जैनदर्शन में हिंसा का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया और कहा गया—भावहिंसा ही वास्तविक हिंसा है। कर्म-बंधन का कारण है। भावहिंसा के बिना यदि मात्र द्रव्यहिंसा होती है तो वह कर्म-बंधन का कारण नहीं बनती है।

1.4 हिंसा के कारण

हिंसा एक है पर उसके कारण अनेक हैं। मनोविज्ञान के अनुसार हमारी मौलिक मनोवृत्तियां हिंसा का कारण हैं। कर्मशास्त्र के अनुसार हिंसा का कारण हमारे पूर्वकृत कर्मों का विपाक है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से हिंसा के प्रेरक तत्त्व हमारे जीन एवं रसायन में विद्यमान हैं। निमित्तों का योग पाकर वे रसायन हिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण बन जाते हैं। इस प्रकार हिंसा के अनेक कारण बन सकते हैं, जिनमें कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

हिंसा : आन्तरिक कारक तत्त्व

1. शरीर के स्तर पर

- ❖ नाडीतंत्रीय असंतुलन,
- ❖ रासायनिक असंतुलन।

2. सूक्ष्म शरीर के स्तर पर

- ❖ कर्म-विपाक,
- ❖ मलिन आभामंडल।

3. चेतना के स्तर पर

- ❖ मानसिक तनाव,
- ❖ भावनात्मक तनाव,
- ❖ निषेधात्मक दृष्टिकोण,
- ❖ मानसिक चंचलता,
- ❖ हीनभावना,
- ❖ वैचारिक आग्रह।

हिंसा : बाह्य कारक तत्त्व

- ❖ असन्तुलित समाज व्यवस्था,
- ❖ असन्तुलित राजनीतिक व्यवस्था,
- ❖ जातीय और रंगभेद की समस्या,
- ❖ मानवीय संबंधों में असंतुलन,
- ❖ आर्थिक स्पर्धा और अभाव,
- ❖ समाचार-पत्र, मीडिया।

हिंसा का कारण अभाव

जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ हैं—रोटी, कपड़ा और मकान। इनका अभाव होने पर व्यक्ति हिंसक बन जाता है। भूखा व्यक्ति, गरीब व्यक्ति अपने जीवन को चलाने के लिए हिंसा का सहारा लेता है। क्योंकि जिजीविषा-जीने की चाह प्राणी मात्र की मौलिक मनोवृत्ति है।

असंतुलित आहार

हिंसा का कारण है—असंतुलित आहार। मनुष्य के आहार का उसके स्वभाव के साथ गहरा संबंध होता है। इसीलिए कहा जाता है—जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन। तामसिक और राजसिक भोजन व्यक्ति के भीतर मूर्च्छा और चंचलता पैदा करते हैं। मूर्च्छा और चंचलता हिंसा को बढ़ावा देती हैं।

तनाव

हिंसा का एक बहुत बड़ा कारण है—तनाव। वही व्यक्ति हिंसा करता है, जो तनाव से ज्यादा ग्रस्त होता है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक के भेद से तनाव के तीन प्रकार हैं। भावनात्मक तनाव आवेशजन्य और अवसादजन्य होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ से होने वाला तनाव आवेशजन्य तनाव है। निराशा, निष्क्रियता और निठल्लापन आदि अवसादजन्य तनाव हैं। ये दोनों प्रकार के तनाव व्यक्ति को हिंसा की ओर ले जाते हैं।

निषेधात्मक भाव

हिंसा का एक बहुत बड़ा कारण है—निषेधात्मक भाव। घृणा, ईर्ष्या, भय, कामवासना—ये सब निषेधात्मक भाव हैं। इनके वशीभूत होकर भी व्यक्ति हिंसा करता है। आज जाति, रंग आदि के आधार पर जो हिंसा हो रही है, उसके पीछे घृणा का भाव ही प्रबल है।

रासायनिक असंतुलन

हिंसा का एक बड़ा कारक तत्व है—रासायनिक असंतुलन। हिंसा केवल बाहरी कारणों से ही नहीं होती इसके भीतरी कारण भी हैं और वह है—रासायनिक असंतुलन। हमारी ग्रंथियों में रसायन बनते हैं। वे संतुलित अवस्था में होने पर जीवन में संतुलन स्थापित रहता है किन्तु इन रसायनों में असंतुलन होने पर व्यक्ति का मस्तिष्क विकृष्ट हो जाता है और उसके भीतर हिंसा की वृत्तियाँ जाग जाती हैं।

नाडीतंत्रीय असंतुलन

नाडीतंत्रीय असंतुलन भी हिंसा का एक कारण है। नाडीतंत्रीय असंतुलन होने पर व्यक्ति अकारण ही हिंसा करने लगता है। मारने का कोई प्रयोजन नहीं होता और न ही कोई बदला लेने की भावना होती है। नाडीतंत्रीय असंतुलन के कारण हिंसा करना, मारना व्यक्ति के आनन्द और मनोरंजन का विषय बन जाता है।

कर्म का विपाक

बहुत बार बाहर में हिंसा का कोई दृश्य कारण नहीं होता। व्यक्ति शांति से बैठा हुआ है, किन्तु कर्म का संस्कार अचानक इतना प्रबल विपाक (उदय) में आ जाता है कि व्यक्ति बिना कारण, बिना परिस्थिति हिंसा करने के लिए मजबूर हो जाता है।

1.5 हिंसा के भेद

हिंसा की उत्पत्ति का मूल कारण है—कषाय। ये कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हीं कषायों के कारण सरंभ, समारंभ तथा आरम्भ हिंसा होती है। सरंभ, समारंभ और आरम्भ के भेद से हिंसा के तीन प्रकार हैं—

1. **सरंभ**—हिंसा करने का मन में जो विचार आता है, उसे सरंभ कहते हैं।
2. **समारंभ**—हिंसा करने के लिए जो उपक्रम किया जाता है, उसे समारंभ कहते हैं।
3. **आरम्भ**—प्राणघात तक जो क्रियाएँ की जाती हैं, उसे आरम्भ कहते हैं।

इस प्रकार चार कषाय को सरंभ आदि तीन से गुणा करने पर हिंसा के बारह प्रकार हो जाते हैं। जैन दर्शन में हिंसा मन, वचन और काया से होती है अतः बारह को तीन से पुनः गुणा करने पर हिंसा के छत्तीस भेद हो जाते हैं। मन, वचन, काय—इन तीनों योग के भी तीन-तीन भेद होते हैं। हिंसा स्वयं करना, अन्य व्यक्ति से करवाना तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना—ये तीन करण कहलाते हैं। इस प्रकार हिंसा के छत्तीस भेद को इन तीन करण से गुणा करने पर 108 भेद माने जाते हैं।

जैन विचारकों ने हिंसा को दूसरी तरह से विभाजित कर उसके चार भेद बताये हैं—

1. **आरंभजा**—जीवन निर्वाह के निमित्त भोजन आदि तैयार करने में जो हिंसा होती है, उसे आरंभजा हिंसा कहते हैं।
2. **उद्योगजा**—खेती-बाड़ी, आजीविका के उपार्जन अथवा उद्योग में व्यवसाय के निमित्त जो हिंसा होती है, उसे उद्योगजा हिंसा कहते हैं।
3. **विरोधजा**—समाज, राष्ट्र आदि पर हुए शत्रुओं या अत्याचारियों के आक्रमण का विरोध करने में जो हिंसा होती है, उसे विरोधजा हिंसा कहते हैं।
4. **संकल्पजा**—संकल्पपूर्वक या पहले से सोच-विचार कर मारने का उद्देश्य बनाकर किसी के प्राण का हनन करना संकल्पजा हिंसा है।

प्रथम तीन प्रकार की हिंसा को श्रावक पूर्णतः नहीं छोड़ सकता, आंशिक रूप से छोड़ता है किन्तु संकल्पजा हिंसा उसके लिए सर्वथा वर्जनीय है।

हिंसा के निम्न पांच भेद भी उपलब्ध होते हैं—1. अर्थदण्ड, 2. अनर्थदण्ड, 3. हिंसादण्ड, 4. अकस्मात् दण्ड, 5. दृष्टिविपर्यास दण्ड।

1. **अर्थदण्ड**—यदि कोई व्यक्ति अपने लिए, अपनी जाति, परिवार, मित्र, घर आदि के लिए स्थावर प्राणियों की स्वयं घात करता है, दूसरों से करवाता है, घात करने को अच्छा समझता है, तो वह अर्थदण्ड के द्वारा पाप-कर्म का बंध करता है। यह प्रयोजन सहित हिंसा है।

2. **अनर्थदण्ड**—यदि कोई व्यक्ति बिना प्रयोजन कुतूहलवश प्राणियों को मारता है, छेदन-भेदन करता है, अंगों को काटता है, चपलतावश वनस्पतियों को उखाड़ देता है, जंगल आदि में आग लगा देता है, तो वह अनर्थदण्ड के द्वारा पापकर्म का बंध करता है।

3. **हिंसादण्ड**—यदि कोई व्यक्ति दूसरे प्राणियों को इस आशंका से मार देता है कि 'यह जीवित रहेगा तो मुझे मार डालेगा' जैसे कंस ने देवकी पुत्रों को उनके द्वारा भविष्य में अपने नाश की शंका करके मार डाला था। बहुत से व्यक्ति सिंह, सर्प आदि प्राणियों का वध इसलिए कर डालते हैं कि ये जीवित रहकर दूसरे प्राणियों का वध करेंगे। इस प्रकार किसी भी त्रस या स्थावर जीवों का घात व्यक्ति स्वयं करता है, दूसरों से करवाता है, करने वालों को अच्छा मानता है तो उसको हिंसा हेतुक क्रिया से पाप-कर्म का बंध होता है।

4. **अकस्मात् दण्ड**—किसी प्राणी की घात करने के अभिप्राय से चलाए हुए शस्त्र के द्वारा यदि दूसरे प्राणी का वध हो जाए तो उसे अकस्मात् दण्ड कहते हैं। जैसे मृग का वध कर अपनी जीविका चलाने वाला व्याध मृग को लक्ष्य कर बाण चलाता है परन्तु वह बाण कभी-कभी मृग को न लगकर किसी पक्षी को लग जाता है। इस प्रकार पक्षी को मारने का आशय न होने पर भी पक्षी का वध हो जाना अकस्मात् दण्ड कहलाता है।

5. **दृष्टिविपर्यास दण्ड**—अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को दण्ड देना दृष्टि-विपर्यास दण्ड कहलाता है। जब मित्र को शत्रु के भ्रम से तथा साहूकार को चोर के भ्रम से दण्ड दिया जाता है तो वह दृष्टि-विपर्यास से होने वाली हिंसा के द्वारा पाप-कर्म का बंध करता है।

हिंसा के स्वरूप और कारणों को समझने के बाद अहिंसा का स्वरूप स्वतः सामने आ जाता है।

1.6 अहिंसा की परिभाषा

अहिंसा शब्द का सीधा-सा अर्थ है—हिंसा न करना। संसार के सभी जीव स्थावरकाय और त्रसकाय के भेद से दो भागों में विभक्त हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये स्थावर जीव हैं तथा जिनमें चलने-फिरने का सामर्थ्य होता है, वे त्रस-जीव हैं। त्रस या स्थावर किसी भी जीव की हिंसा न करना ही अहिंसा है।

अहिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा गया—‘प्राणानामनतिपातः सर्वभूतेषु संयमः अप्रमादो वा अहिंसा’। अहिंसा की इस परिभाषा से तीन बातें फलित होती हैं—

1. प्राणों का हनन न करना—जैन दर्शन में श्रोत्रेन्द्रिय आदि दस प्राण माने गए हैं। उनमें से किसी भी प्राण का हनन न करना अहिंसा है।

2. प्राणीमात्र के प्रति संयम रखना—सब जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार अहिंसा है।

3. अप्रमत्त रहना—प्रमाद हिंसा और अप्रमाद (आत्मा के प्रति जागरूकता) अहिंसा है।

अप्रमत्त अवस्था में जागरूकता इतनी बढ़ जाती है कि वह प्रमादवश कोई भी हिंसा नहीं करता।

इस प्रकार जैनदर्शन में हिंसा का संबंध मात्र प्राण-वियोजन करने से नहीं है, उसका व्यापक अर्थ है। किसी भी जीव को उत्पीड़ित करना, शोषण करना, अतिरिक्त श्रम लेना, अनुचित लाभ उठाना, मर्मभेदी कटु शब्द बोलना, अपमानित करना, दूसरों के अधिकारों में कटौती करना आदि-आदि विषम व्यवहार भी हिंसा है। असद् चिन्तन एवं असत्प्रवृत्ति मात्र हिंसा है। सद्चिन्तन और सत्प्रवृत्ति मात्र अहिंसा है।

जैनदर्शन में हिंसा और अहिंसा के भेद का आधार राग-द्वेष है। जहां राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति है, वहां किसी भी प्राणी के प्राण का वियोजन न होने पर भी भाव-हिंसा है और जहां पर राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति नहीं है, वहां पर किसी भी प्राणी के प्राण का वियोजन हो जाने पर भी भावहिंसा नहीं है, मात्र द्रव्यहिंसा है।

1.7 अहिंसा के प्रकार

अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ हिंसा न करने से लिया जाता है, किन्तु इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों हैं अतः निषेधात्मक और विधेयात्मक के भेद से अहिंसा के दो प्रकार हो जाते हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति नहीं करना, प्राण-वध नहीं करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है।

जैन दर्शन के अनुसार तीन योग (मन, वचन, काय) और तीन करण (करना, कराना, अनुमोदन करना) से हिंसा न करना ही पूर्ण अहिंसा है। इन तीन योग और तीन करण के संयोग से अहिंसा के नौ प्रकार बन जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. मन से हिंसा न करना।
2. मन से हिंसा न करवाना।
3. मन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
4. वचन से हिंसा न करना।
5. वचन से हिंसा न करवाना।
6. वचन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
7. काय से हिंसा न करना।
8. काय से हिंसा न करवाना।
9. काय से हिंसा का अनुमोदन न करना।

इन नौ प्रकारों से किसी भी प्राणी का घात न करना अहिंसा है। यह अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप है। अहिंसा का यह निषेधात्मक स्वरूप ही अधिक प्रचलित है किन्तु अहिंसा का विधेयात्मक रूप भी है।

सत्प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय करना, दान करना, ज्ञान-चर्चा आदि-आदि आत्महितकारी क्रिया करना विधेयात्मक अहिंसा है। निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है और विधेयात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्त्यात्मक सक्रियता होती है।

जैनदर्शन के अनुसार सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता अतः सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को हानि मत पहुंचाओ। इस कथन में अहिंसा का द्वयर्थी सिद्धान्त—विधेयात्मक और निषेधात्मक सन्निहित है। विधेयात्मक में एकता का संदेश है—‘सबमें अपने आपको देखो’। निषेधात्मक उससे उत्पन्न होता है—‘किसी को भी हानि मत पहुंचाओ’। सबमें अपने आपको देखने का अर्थ है—सबको हानि पहुंचाने से बचाना। यह हानि से बचाना, सबमें एक की कल्पना करने से विकसित होता है। अतः अहिंसा का केवल निषेधात्मक स्वरूप ही नहीं विधेयात्मक स्वरूप भी है।

अहिंसा के चार विकल्प

अहिंसा की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अहिंसा के दो रूप होते हैं—भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा। मन में यह संकल्प करना कि मैं किसी भी प्राणी का घात नहीं करूंगा, भाव अहिंसा है तथा मन से किये गए संकल्प को क्रिया रूप देना अर्थात् वचन और काय से उसका पालन करना द्रव्य अहिंसा है। भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा के आधार पर अहिंसा के चार विकल्प इस प्रकार बन सकते हैं—

- ❖ भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा।
- ❖ भाव अहिंसा किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं।
- ❖ भाव अहिंसा नहीं किन्तु द्रव्य अहिंसा।
- ❖ न भाव अहिंसा और न द्रव्य अहिंसा।

1. **भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा**—कोई व्यक्ति मन में संकल्प करता है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करेगा और सचमुच वह ऐसा करता भी है तो ऐसी अहिंसा भावरूप और द्रव्यरूप दोनों ही हुई।

2. **भाव अहिंसा किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं**—एक साधु किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का संकल्प लेता है और ईर्या-समिति पूर्वक अपनी राह पर देखते हुए चलता है, फिर भी बहुत से जीवों का अनजाने में घात हो जाता है। यहाँ पर भाव अहिंसा तो है पर द्रव्य अहिंसा नहीं है।

3. **भाव अहिंसा नहीं पर द्रव्य अहिंसा**—एक मछुआरा मछली मारने के उद्देश्य से जाल फँलाता है, किन्तु संयोगवश कभी-कभी वह एक भी मछली नहीं पकड़ पाता है। यहाँ पर भाव अहिंसा नहीं है किन्तु द्रव्य अहिंसा है।

4. **न भाव अहिंसा और न द्रव्य अहिंसा**—मांस आदि के लोभ से आदमी जब मृग आदि जीवों को मारता है तो उसके द्वारा न भाव अहिंसा होती है और न द्रव्य अहिंसा ही होती है।

1.8 अहिंसा का पालन क्यों?

अहिंसा पालन करने का व्यावहारिक हेतु यह है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, सभी को अपना जीवन प्रिय होता है। मरना कोई नहीं चाहता। मारने से उन्हें कष्ट पहुंचता है। किसी को कष्ट पहुंचाना उचित नहीं अतः अहिंसा का पालन करना चाहिए। अहिंसा पालन करने का यह व्यावहारिक कारण है, प्रधान कारण नहीं। अहिंसा-पालन करने का नैश्चयिक या प्रधान कारण है—आत्म-कल्याण। हिंसा करने वाला व्यक्ति दूसरों का अहित करने से पहले अपना अहित करता है। हिंसा का भाव मन में लाकर वह अपनी आत्मा का पतन करता है, क्योंकि मन में हिंसा के भाव आने मात्र से पापकर्म का बंधन हो जाता है, आत्मा मलिन हो जाती है। हिंसा करने वाला व्यक्ति दूसरों से वैरभाव बढ़ाकर उन्हें अपना शत्रु बना लेता है। इसके विपरीत अहिंसा का पालन करने वाला सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखता है, मन में किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं लाता। मन के दूषित न होने पर उसकी आत्मा भी शुद्ध एवं पवित्र रहती है। आत्मशुद्धि के कारण वह मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है। अहिंसा के पालन से वह जन्म-मरण के बंधन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अहिंसा पालन करने के दो कारण हैं। व्यावहारिक कारण है—अन्य प्राणियों के प्रति उपकार और नैश्चयिक कारण है—आत्मकल्याण या मोक्षप्राप्ति।

1.9 सारांश

इस प्रकार जैन दर्शन में अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। अहिंसा की सूक्ष्मता को समझाने के लिए हिंसा, हिंसा के प्रकार, हिंसा के कारण आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। साथ ही अहिंसा, अहिंसा के प्रकार तथा अहिंसा पालन के महत्त्व को भी उजागर किया गया है।

1.10 बोध-प्रश्न

1. भाव-हिंसा क्या है?
2. हिंसा के 108 भेद कैसे हुए?
3. अहिंसा का निषेधात्मक और विधेयात्मक रूप क्या है?

इकाई-2 : अपरिग्रह

संरचना

- 2.1 परिग्रह का लक्षण
- 2.2 परिग्रह के प्रकार
- 2.3 परिग्रह-परिमाण व्रत की मर्यादाएँ
- 2.4 परिग्रह का कारण
- 2.5 परिग्रह का परिणाम
- 2.6 परिग्रह परिमाण व्रत का औचित्य
- 2.7 सारांश
- 2.8 बोध-प्रश्न

जैन आचार श्रमणाचार और श्रावकाचार के भेद दो भागों में विभक्त हैं। श्रमण परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं अतः उनका व्रत अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है। जैन परम्परा में श्रमण (मुनि) को अनासक्त चेतना के विकास के लिए सचेष्ट किया गया है। उनके लिए कहा गया—जिस प्रकार समुद्र को पार करने के लिए नौका आवश्यक है किन्तु समुद्र यात्री उस नौका में आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार जीवन-निर्वाह के लिए वस्त्र, पात्र आदि धार्मिक उपकरण आवश्यक हैं किन्तु मुनि उसमें आसक्त न बने। आसक्तिवश आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह न करे। किन्तु श्रावक का जीवन बिना परिग्रह के संचालित नहीं होता अतः उनके लिए परिग्रह का पूर्ण त्याग करना अनिवार्य नहीं होता। उनका व्रत परिग्रह-परिमाण (इच्छापरिमाण) अणुव्रत कहलाता है। श्रावक के लिए संग्रह की मर्यादा का विधान है, जो स्वयं श्रावक की इच्छा पर निर्भर है। वह आवश्यकतानुसार पदार्थों का ग्रहण करे और अतिरिक्त या आवश्यकता से अधिक पदार्थ का समाज में वितरण कर दे। अपरिग्रही बनने के लिए परिग्रह के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

2.1 परिग्रह : लक्षण एवं परिभाषा

परिग्रह शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'ग्रह' धातु में घञ् प्रत्यय लगने पर बना है, जिसका अर्थ है—पकड़ना, थामना, लेना, ग्रहण करना आदि। परिग्रह का निरुक्तपरक अर्थ करने पर इसकी दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—

1. परिग्रह्यते अनेनेति परिग्रहः— जिसके द्वारा ग्रहण किया जाए, वह परिग्रह है।
2. परिग्रह्यते इति परिग्रहः— जो ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है।

प्रथम निरुक्त के अनुसार पदार्थ को ग्रहण करने में जो कारण हैं, जिसके कारण व्यक्ति संग्रह करता है, वह परिग्रह है और द्वितीय निरुक्त के अनुसार धन, धान्य, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थ परिग्रह हैं। परिग्रह का विपरीत अपरिग्रह है।

वाचस्पत्यम् के अनुसार 'देह यात्रा के निर्वाह के अतिरिक्त भोग के साधनों और धनादि का अस्वीकार अपरिग्रह है।' आत्म-शुद्धि के लिए बाहरी उपकरणों का त्याग अपरिग्रह है। अपरिग्रह और परिग्रह की यह परिभाषा स्थूल दृष्टि से है, जिसका संबंध मात्र वस्तु के अस्वीकार और स्वीकार से है। परिग्रह और अपरिग्रह को सूक्ष्म दृष्टि से परिभाषित करते हुए बताया गया—मूर्च्छा (आसक्ति) परिग्रह और अमूर्च्छा (अनासक्ति) अपरिग्रह है। वस्तुतः पदार्थ अपने आप में न परिग्रह है और न अपरिग्रह अपितु उस पदार्थ के प्रति जब ममत्व भाव जुड़ता है, आसक्ति जुड़ती है तब वह परिग्रह बन जाता है और जब ममत्व भाव हटता है, आसक्ति टूटती है तब वह अपरिग्रह बन जाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सूक्ष्म दृष्टि से पदार्थ के प्रति मूर्च्छा या आसक्ति का अभाव अपरिग्रह है और स्थूल दृष्टि से पदार्थों का असंग्रह-अस्वीकार अपरिग्रह है।

2.2 परिग्रह के प्रकार

परिग्रह दो प्रकार का होता है—अंतरंग परिग्रह और बाह्य परिग्रह। व्यक्ति का पदार्थ के प्रति रागात्मक भाव, मूर्च्छा या आसक्ति का भाव अंतरंग परिग्रह है तथा राग (आसक्ति) के कारण पदार्थों का संग्रह बाह्य परिग्रह है। अंतरंग शुद्धि होने से बाह्य परिग्रह की सीमा स्वतः हो जाती है और बाह्य परिग्रह की सीमा होने से धीरे-धीरे पदार्थ के प्रति होने वाली मूर्च्छा टूटती जाती है। बाह्य पदार्थ के निम्न नौ प्रकार हैं—

बाह्य परिग्रह

1. क्षेत्र—उपजाऊ भूमि की मर्यादा। इसमें खेत, खलिहान, चारागाह, बाग, पहाड़, खान, जंगल आदि सभी तरह की खुली भूमि का समावेश है।
2. वास्तु—मकान, दुकान, गोदाम, अतिथि-गृह, बंगला आदि।
3. हिरण्य—चांदी के बर्तन, आभूषण तथा चांदी के अन्य उपकरण आदि।
4. सुवर्ण—स्वर्ण, सोने के बर्तन, आभूषण, चैन, घड़ी आदि।
5. धन—रुपये, पैसे, सिक्के, नोट, ड्राफ्ट, चैक, बैंक बैलेंस आदि।
6. धान्य—अनाज, गेहूँ, चावल, उड़द, मूँग, बाजरा आदि।
7. द्विपद—दो पैर वाले प्राणी; जैसे—स्त्री, पुरुष, तोता, मैना आदि।
8. चतुष्पद—चार पैर वाले प्राणी, जैसे—हाथी, घोड़ा, गधा, बकरी, गाय, भैंस आदि पशु।
9. कुप्य या गोप्य—स्वर्ण, चांदी की वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं का समावेश कुप्य में होता है। कुप्य का तात्पर्य घर की समस्त सामग्री से है; जैसे—घर के समस्त बर्तन, सोफासेट, मेज, कुर्सी, अलमारी, पंखे, टेलीविजन, कार, स्कूटर, फ्रीज आदि।

अंतरंग परिग्रह

अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। श्रावक बाह्य और अंतरंग परिग्रह की मर्यादा करता है। जितनी मर्यादा करता है, फिर उसी के अन्तर्गत अपने जीवन का संचालन करता है।

2.3 परिग्रहपरिमाण व्रत की मर्यादाएँ

श्रावक पूर्ण रूप से परिग्रह का परित्याग नहीं कर सकता। वह इन नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहों में से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा कर शेष वस्तुओं के ग्रहण एवं संग्रह का त्याग करता है। यही इच्छापरिमाण व्रत या परिग्रहपरिमाण व्रत है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिग्रह का परिमाण इस प्रकार किया जाता है; यथा—

द्रव्य से—अमुक-अमुक वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की इच्छा नहीं करूंगा।

क्षेत्र से—अमुक-अमुक क्षेत्र से बाहर की वस्तु की इच्छा नहीं करूंगा।

काल से—इतने दिन, मास, वर्ष या जीवन भर इन वस्तुओं के अतिरिक्त उपयोग नहीं करूंगा।

भाव से—जिन वस्तुओं की मर्यादा की है, उनसे अधिक की इच्छा नहीं करूंगा।

2.4 परिग्रह का कारण

परिग्रह (पदार्थ संग्रह) के मूल कारण हैं—इच्छा, तृष्णा, काम, लोभ और सुखवादी-सुविधावादी मनोवृत्ति।

1. इच्छा

परिग्रह का मूल इच्छा है। व्यक्ति की आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं किन्तु इच्छाएँ आकाश के समान असीम होती हैं। इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए ही व्यक्ति पदार्थ का संग्रह करता है। टॉलस्टाय ने अपनी कहानी—How much land does a man require? के माध्यम से यह बताने का प्रयत्न किया है कि व्यक्ति असीम तृष्णा के पीछे पागल होकर जीवन की बाजी लगा देता है किन्तु अन्त में उसके शव को दफनाने भर के लिए ही भू-भाग उसके उपयोग में आता है। व्यक्ति की इच्छाएँ असीम हैं। एक इच्छा पूरी होते ही तत्काल उससे भिन्न अन्य वस्तु पाने की इच्छा जाग जाती है। इस प्रकार इच्छाओं का क्रम चलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के इच्छा का गड्ढा इतना बड़ा होता है कि उसको भरने के लिए सारे संसार के समस्त पदार्थ भी थोड़े होते हैं। इसलिए कहा है—Desire is burning fire, he who falls into it never rises again. इच्छा जलती हुई आग है, उसमें गिरा व्यक्ति कभी नहीं उठता।

2. लोभ

परिग्रह का दूसरा कारण लोभ है। लोभ के वशीभूत होकर ही व्यक्ति अर्थार्जन करता है, परिग्रह के प्रति ममत्व-राग करता है। भगवान महावीर ने कहा—‘जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई’ अर्थात् जहाँ लाभ होता है, वहाँ लोभ होता है, लाभ से लोभ बढ़ता है। जैसे व्यक्ति में एक लाख रुपये प्राप्त करने का लोभ जागता है, एक लाख प्राप्त होते ही दस लाख प्राप्त करने का लोभ जाग जाता है और दस लाख प्राप्त होते ही एक करोड़ का लोभ जाग जाता है। इस प्रकार लोभवश व्यक्ति परिग्रह के लिए प्रवृत्त होता है।

3. सुविधावादी मनोवृत्ति

व्यक्ति सुख-सुविधा का जीवन जीना चाहता है। अपनी इस मनोवृत्ति की पूर्ति के लिए परिग्रह का विस्तार करता है ताकि सुख-सुविधा के साधनों को आसानी से जुटा सके।

4. प्रदर्शन की मनोवृत्ति

व्यक्ति ज्ञातिजनों और मित्रजनों के सम्मुख परिग्रह का प्रदर्शन कर आंतरिक आह्लाद का अनुभव करता है। प्रदर्शन की भावना से ही प्रेरित होकर वह बंगला, कार, आभूषण आदि का आवश्यकता न होने पर भी संग्रह करता रहता है।

2.5 परिग्रह का परिणाम

परिग्रह अनेक दोषों की जननी है। परिग्रह के लिए ही व्यक्ति हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, अनेक कष्टों को सहन करता है। अतः परिग्रह का परिणाम व्यक्ति के लिए दुःखदाई होता है। जैसे—

- ❖ धन-धान्य आदि का संग्रह करने के लिए उसे अनेक कष्टों को सहन करना पड़ता है।
- ❖ धन प्राप्त हो जाने पर उसकी सुरक्षा का भय सदा बना रहता है।
- ❖ बाढ़, भूकम्प, चोरी-डकैती आदि किन्हीं कारणों से प्राप्त धन का नाश होने पर तीव्र अनुताप होता है।

परिग्रह का सुख तो सभी बंट लेते हैं, किन्तु परिग्रह से उत्पन्न दुःख का अनुभव व्यक्ति अकेला करता है। परिग्रह असन्तोष, अविश्वास एवं हिंसा आदि का कारण बनता है। इसीलिए परिग्रह का परिणाम दुःख है।

2.6 परिग्रह-परिमाण व्रत का औचित्य

सामान्यतः यह कहा जाता है कि इच्छाओं का जितना विकास होगा, उतना ही आर्थिक विकास होगा और जितना आर्थिक विकास होगा, उतना ही राष्ट्र का विकास होगा अतः इच्छाओं को असीम बनाना चाहिए। अर्थ विकास के इस युग में परिग्रह-परिमाण व्रत का कोई औचित्य नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार परिग्रह-परिमाण व्रत का औचित्य आज भी है। यह अनेक कारणों से मानव जाति के लिए आज भी लाभप्रद है, उनमें से कुछ कारण निम्न हैं—

1. परिग्रह-परिमाण व्रत व्यक्ति को संतोष और शांति प्रदान करता है।

2. परिग्रह-परिमाण व्रत होने पर व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी जैसे दोषों से बच सकता है।
3. परिग्रह-परिमाण व्रत होने पर अनैतिकता, भ्रष्टाचार, असंयम, लोभ, मिलावट, तस्करी, धोखाधड़ी आदि समस्याओं का समाधान हो सकता है।
4. परिग्रह-परिमाण व्रत करने वाला व्यक्ति निर्धन वर्ग की ईर्ष्या का पात्र बनने से बच जाता है।
5. परिग्रह-परिमाण व्रत होने पर हृदय में उदारता की भावना को बल मिलता है।
6. परिग्रह-परिमाण व्रत सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय होता है क्योंकि उसमें सम्पदा पर एकाधिपत्य की भावना का नाश हो जाता है। अपनी पूर्ति होने के पश्चात् सर्वकल्याण की भावना का विकास होता है।

इस प्रकार भगवान महावीर के अपरिग्रह का विचार और आचार केवल परमार्थ-साधना का विषय नहीं, यह व्यक्तिगत जीवन में सुख और शांति के लिए तथा स्वस्थ समाज संरचना के लिए भी आवश्यक है। यह बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, आतंकवाद और पर्यावरण प्रदूषण जैसी अनेक समस्याओं के निराकरण का एक सार्थक उपाय है। अतः व्यक्ति अपनी इच्छाओं का सीमाकरण करे तथा आवश्यक पदार्थों के प्रति भी मूर्च्छा-आसक्ति न रखे।

2.7 सारांश

जैन दर्शन में मूलतः मूर्च्छा (आसक्ति) को परिग्रह कहा गया है। आसक्ति दुःख का कारण है अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से परिग्रह का सीमाकरण करना चाहिए। इच्छा, लोभ, सुविधावादी तथा प्रदर्शन की मनोवृत्ति परिग्रह का मूल कारण है। परिग्रह के अर्जन और संरक्षण में भी कष्ट जुड़े हुए हैं। अतः परिग्रह का सीमाकरण तथा सीमित परिग्रह के प्रति ममत्व भाव कम करना चाहिए।

2.8 बोध-प्रश्न

1. परिग्रह किसे कहते हैं?
2. अंतरंग परिग्रह कौन-से हैं?
3. परिग्रह का सीमाकरण क्यों करना चाहिए?

इकाई-3 : अनेकान्तवाद

संरचना

- 3.1 अनेकान्त का अर्थ
- 3.2 अनेकान्त की परिभाषा
- 3.3 सापेक्षता
- 3.4 सह-अस्तित्व
- 3.5 समन्वय
- 3.6 अनेकान्त की व्यापकता
- 3.7 सारांश
- 3.8 बोध-प्रश्न

प्रत्येक दर्शन का एक मौलिक और विशिष्ट सिद्धान्त होता है, जिसके आधार पर उसके विचारों का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन का विशिष्ट और मौलिक सिद्धान्त है, जिसकी सुदृढ़ नींव पर जैन दर्शन के आचार और विचार का भव्य प्रासाद खड़ा है।

3.1 अनेकान्त का अर्थ

अनेकान्त शब्द अनेक + अन्त—इन दो शब्दों से बना है। अनेक का अर्थ है—एक से अधिक, अन्त का अर्थ है—धर्म (स्वभाव)। रत्नावकारिका ग्रन्थ में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा गया—अनेकश्चासौ अन्तश्च इति अनेकान्तः। वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों के समूह को स्वीकार करना अनेकान्त है। जैन दर्शन के अनुसार एक ही वस्तु में एक ही समय में अनन्त विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं, यह अनेकान्त दर्शन की महत्वपूर्ण स्वीकृति है।

3.2 अनेकान्त की परिभाषा

भिक्षु न्यायकर्णिका में अनेकान्त को परिभाषित करते हुए लिखा गया—एकत्र वस्तुनि विरोध्यविरोधिनामनेक-धर्माणां स्वीकार अनेकान्तः एक ही वस्तु में विरोधी-अविरोधी अनेक धर्मों की स्वीकृति अनेकान्त है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों, अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायों का अखण्ड पिण्ड है। कोई भी पदार्थ न एकान्ततः नित्य है और न अनित्य। न एक है, न अनेक। न सत् है, न असत्। न वाच्य है, न अवाच्य। सभी पदार्थ नित्य भी हैं, अनित्य भी हैं। एक भी हैं, अनेक भी हैं। सत् भी हैं, असत् भी हैं। वाच्य भी हैं, अवाच्य भी हैं। जैसाकि आचार्य अमृतचन्द्र ने भी समयसार की टीका में लिखा है—यदेव तत् तदेव अतत् यदेवेकं तदेवानेकं यदेव सत् तदेवासत् यदेवनित्यं तदेवानित्यम्।

इस प्रकार अनेकान्त एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों को प्रकाशित करता है। कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य स्वरूप वाली नहीं है। वस्तु में नित्यता और अनित्यता का कथन सापेक्ष है। जिस समय पदार्थ के जिस धर्म की विवक्षा होती है, वह प्रधान बन जाता है, शेष सारे धर्म गौण हो जाते हैं। प्रधानता और गौणता वस्तु का धर्म नहीं, किन्तु यह वक्ता की विवक्षा है। उदाहरणतः जब व्यक्ति चलता है तो एक पैर आगे रहता है, दूसरा पैर पीछे रहता है तब गतिक्रिया संभव होती है। यदि दोनों पैर आगे रहने का आग्रह करें तो गतिक्रिया नहीं हो सकती। उसी प्रकार वस्तु के जिस गुण का कथन किया जाता है, वह प्रधान बन जाता है। शेष धर्म गौण हो जाते हैं। यदि सभी धर्म प्रधान बनने का आग्रह करें तो भाषा के द्वारा एक साथ सभी को प्रधानता नहीं दी जा सकती।

अनेकान्त जीवन की एक प्रशस्त पद्धति है। इसकी मुख्य तीन निष्पत्तियाँ हैं, जिसके माध्यम से इसे और अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है, वे हैं—सापेक्षता, सह-अस्तित्व और समन्वय।

3.3 सापेक्षता

अनेकान्त का पहला सिद्धान्त है—सापेक्षता। यह एक वैज्ञानिक एवं सार्वभौम सिद्धान्त है। यह दर्शन-युग से वैज्ञानिक युग में भी प्रवेश पा चुका है। विश्व-विख्यात वैज्ञानिक आल्बर्ट आइंस्टीन द्वारा आविष्कृत 'सापेक्षवाद' (Theory of Relativity) विज्ञान का एक प्रमुख सिद्धान्त बन चुका है।

स्याद्वाद में प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द सापेक्षता का सूचक है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। अनन्त धर्मों का एक साथ प्रतिपादन कर पाना किसी के वश की बात नहीं, क्योंकि भाषा की अपनी सीमा है। शब्द के द्वारा एक समय में एक धर्म का ही प्रतिपादन किया जा सकता है। उसके शेष धर्म प्रतिपादित नहीं किये जा सकते। किसी एक अपेक्षा से हम वस्तु के एक धर्म का कथन करते हैं, पर किसी अन्य अपेक्षा से दूसरे धर्मों का भी अस्तित्व है, उसे नकारा नहीं जा सकता। इस अपेक्षाभेद को समझना ही सापेक्षता है।

अनेकान्त का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है—एक मुख्य होगा, शेष सारे गौण हो जाएँगे। इसी आधार पर सापेक्षता का विकास हुआ। जो मुख्य होगा, वह दूसरों की अपेक्षा कर चलेगा। वह कभी निरपेक्ष होकर नहीं चलेगा। यदि सापेक्षता का आधार न लिया जाये तो व्यावहारिक और दार्शनिक—दोनों दृष्टियों से काफी उलझनें खड़ी हो सकती हैं।

एक व्यक्ति कवि है, लेखक है, वक्ता है, कलाकार है, चित्रकार है, संगीतकार है और भी न जाने क्या-क्या है। कविता-गोष्ठी में उसका कवि रूप सामने आता है पर उस समय उसकी दूसरी-दूसरी विशेषताएँ समाप्त नहीं हो जाती। उसके लिए कोई यह कहे कि वह कवि ही है, अन्य कुछ नहीं तो इस कथन में सत्यता नहीं रहती। इसलिए स्याद्वाद को समझने वाला व्यक्ति कहेगा कि वह 'स्याद् कवि है'। एक अपेक्षा से वह कवि है किन्तु अन्य अपेक्षाओं से वह वक्ता, लेखक आदि भी है, जिनकी चर्चा का यहाँ प्रसंग नहीं है। वर्तमान में जो विशेषता चर्चा का विषय होती है, वह प्रधान बन जाती है और अन्य विशेषताएँ गौण हो जाती हैं।

इस प्रकार वस्तु में जो नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष आदि विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं, उन्हें यदि अपेक्षा भेद से देखें तो वे विरोधी नहीं प्रतीत होते। एक ही वस्तु अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी हो सकती है। पर उसका अच्छापन और बुरापन हम अपेक्षा-भेद से ही समझ सकते हैं।

महर्षि कुत्स के हाथ में कमण्डलु था। शिष्य से पूछा—यह खाली है या भरा हुआ? वह पानी से आधा भरा था। शिष्य उत्तर नहीं दे पाया। गुरु से ही समाधान मांगा। महर्षि कुत्स ने कहा—यह खाली भी है, भरा हुआ भी है। आधा भरा हुआ है इसलिए खाली नहीं है और पूरा भरा हुआ नहीं है अतः खाली है। यही सापेक्षता है।

जैन चिन्तकों का यह सापेक्षता का सिद्धान्त हमारा मार्ग-प्रशस्त करता है। आग्रह दूर करता है और राग-द्वेष को कम करता है। इस प्रकार सापेक्षवाद जैन दर्शन की समूचे विश्व के लिए एक वैज्ञानिक देन है।

3.4 सह-अस्तित्व

अनेकान्त का दूसरा सिद्धान्त है—सह-अस्तित्व। अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में अनन्त विरोधी धर्म होते हैं और उनका सह-अस्तित्व होता है। यदि विरोधी धर्म न हों तो वस्तु का अस्तित्व भी नहीं हो सकता। चेतन का अस्तित्व तब है जब अचेतन है। अचेतन का अस्तित्व तब है जब चेतन है। चेतन के बिना अचेतन का और अचेतन के बिना चेतन का अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

अनेकान्त का एक सूत्र है—सह-प्रतिपक्ष। समूची प्रकृति की व्यवस्था में विरोधी युगलों का अस्तित्व है। सुख है तो दुख भी है, ज्ञान है तो अज्ञान भी है, जीवन है तो मृत्यु भी है। इस पक्ष-प्रतिपक्ष की स्वीकृति से ही अनेकान्त का विकास होता है।

अनेकान्त ने सबसे पहले इस नियम की व्याख्या की—जिस प्रकार विरोधी युगल धर्मों का होना स्वाभाविक है, वैसे ही इन विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व भी स्वाभाविक है। भारतीय दर्शनों और विश्व के सभी दर्शनों में सह-अस्तित्व की व्याख्या का ऐतिहासिक श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह अनेकान्तवाद को ही दिया जा सकता है। अनेकान्त का आधार भी यही बना कि जब पदार्थ की प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व होता है, तब हम एक ही दृष्टि से पदार्थ की व्याख्या कैसे कर सकते हैं? स्वभाव में तर्क नहीं चलता, वहाँ अनुभव प्रमाण होता है। अनुभव कहता है कि जो वस्तु गर्म है, वह ठंडी भी हो सकती है। तर्क कहता है वस्तु या ठंडी ही है या गर्म ही है, ठंडी और गर्म एक साथ नहीं हो सकती। अनुभव यह कहता है कि एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से ठंडा और गर्म एक साथ रह सकता है। उनका सह-अस्तित्व हो सकता है।

उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य विरोधी प्रतीत होते हैं पर उनका भी सह-अस्तित्व होता है। दुनियां की कोई भी वस्तु इस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकती। जैन चिन्तकों ने इन विरोधी धर्मों की सह-अवस्थिति को एक उदाहरण से समझाया—

घटमौली सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।

शोक प्रमोद माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्।।

एक स्वर्णकार स्वर्णकलश को तोड़कर स्वर्णमुकुट बना रहा था। उसके पास तीन ग्राहक आए। एक को स्वर्णकलश चाहिए था, दूसरे को स्वर्णमुकुट चाहिए था और तीसरे को केवल स्वर्ण चाहिए था। स्वर्णकार की

प्रवृत्ति को देखकर पहले को दुख हुआ, दूसरे को हर्ष हुआ और तीसरा मध्यस्थ भाव में रहा। तात्पर्य यह हुआ कि एक ही स्वर्ण में पहला व्यक्ति विनाश देख रहा है, दूसरा व्यक्ति उत्पाद देख रहा है और तीसरा व्यक्ति ध्रौव्य (स्थिरता) देख रहा है। ये उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य जो परस्पर विरोधी प्रतीत हो रहे हैं, इनका एक ही वस्तु में सह-अस्तित्व है। अपेक्षा है, इस सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानवीय व्यवहार के साथ जोड़ा जाये ताकि आज रंग-भेद, जातिवाद आदि के नाम पर जो दूरियां बढ़ रही हैं, वे समाप्त हो सकें।

3.5 समन्वयवाद

अनेकान्त का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है—समन्वयवाद। जैन चिन्तकों ने विरोधी धर्मों का एक साथ होना असंभव नहीं माना, उन्होंने विरोधी विचारों को स्वीकार ही नहीं किया अपितु उन विरोधी विचारों के बीच भी समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। समन्वयवाद का अर्थ है—विचारों की मीमांसा। एक ही वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना ही समन्वयवाद है। मान लीजिए दो विचारधाराएँ हैं, एक आत्मा को नित्य मानती है और दूसरी अनित्य मानती है। इन दोनों के बीच समन्वय कैसे हो सकता है? समन्वयवादी कहेगा—दोनों दृष्टियाँ ठीक हैं। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से आत्मा अनित्य है। विश्व में न कोई पदार्थ एकान्ततः नित्य है और न एकान्ततः अनित्य, यही समन्वयवाद है।

समन्वय के चिन्तन की इस पद्धति का नाम ही अनेकान्त है। एक वस्तु है, उसे जानने या देखने वाले अनेक हैं। सबके पास अपनी-अपनी दृष्टियाँ हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से समझी गई वस्तु का स्वरूप एक समान नहीं हो सकता। पर उनके बीच समन्वय को ढूँढ़ा जा सकता है।

उदाहरण के लिए पाँच अंधों ने हाथी को जानना चाहा। पहले अंधे ने हाथी के पैरों को पकड़ा और कहा—हाथी खम्भे जैसा होता है। दूसरे अंधे ने हाथी की पूँछ को पकड़ा और कहा—हाथी खम्भे जैसा नहीं अपितु रस्सी जैसा होता है। तीसरे ने हाथी के मध्य भाग को छूआ और कहा—हाथी तो दीवार जैसा होता है। चौथे ने उसकी सूंड को पकड़ा और कहा—हाथी तो पेड़ की शाखा जैसा होता है। पाँचवे ने हाथी के कान को पकड़ा और कहा—हाथी न खम्भे जैसा होता है, न दीवार जैसा, अपितु वह तो छाज जैसा होता है। पाँचों अपनी-अपनी बात को सत्य साबित करने का आग्रह करने लगे। विवाद बढ़ गया। एक बुद्धिमान् व्यक्ति ने उनके बीच समन्वय स्थापित करवाकर उस विवाद को समाप्त किया। उसने कहा—आप सभी हाथी के एक अंश को जानकर उसे पूर्ण हाथी समझ रहे हैं, जो कि ठीक नहीं। पाँचों ने जो जाना है, उसका समन्वय करके ही आप हाथी के सही रूप को समझ सकते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय में अनेकान्तवाद के सहारे अनेक एकान्तिकवादों, यथा—क्षणिकवाद, नित्यवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, प्रकृतिवाद आदि का समन्वय स्थापित किया है। इस समन्वयवाद में वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओं का सुन्दर समाधान सहित है।

3.6 अनेकान्त की व्यापकता

अनेकान्त व्यापक सिद्धान्त है। इसका उपयोग हर क्षेत्र में किया जा सकता है। स्थूल दृष्टि से विचार करने पर व्यक्ति या वस्तु वर्तमान में जो क्रिया कर रहे होते हैं, उसी स्वरूप वाले प्रतीत होते हैं। जैसे—यदि कोई चल रहा है तो वह गतिशील ही प्रतीत होता है, स्थिर नहीं और कोई स्थिर है तो वह स्थिर ही प्रतीत होता है गतिशील नहीं। पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत नहीं होता। सन्मति तर्क प्रकरण में प्रत्येक वस्तु पर अनेकान्त दृष्टि लागू करते हुए ग्रन्थकार ने अनेकान्त दृष्टि को समझने के लिए कुछ उदाहरण दिए हैं, यथा—

1. तिनका जब गति करता है, तब पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे सभी दिशाओं में एक साथ गति नहीं करता। ऊपर उड़ता है तो नीची दिशा में गति नहीं होती। पूर्व दिशा की ओर जाता है तो पश्चिम की ओर

नहीं। इस प्रकार कोई भी एक दिशा में गति करता है तो दूसरी दिशा की ओर गति नहीं करता। अतः सापेक्ष दृष्टि से एक ही वस्तु में गति-अगति में विरोध समाप्त हो जाता है। पूर्व दिशा की अपेक्षा से वस्तु गतिशील और पश्चिम दिशा की अपेक्षा से वही वस्तु अगतिशील है। गति-अगति दोनों का काल एक है। यही अनेकान्त दृष्टि है।

यह सामान्य कथन है कि 'अग्नि लकड़ियाँ जलाती हैं, क्योंकि दहन उसका स्वभाव है।' अदहन स्वभाव से अग्नि का विरोध प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में दहन और अदहन दोनों स्वभाव अग्नि में विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए लकड़ी आदि दाह्य वस्तुओं को वह जलाती है, लेकिन आकाश, आत्मा आदि को नहीं भी जलाती अतः अदहन धर्म भी उसमें निहित है। दहन-अदहन में विरोध नहीं, अपितु दोनों सापेक्ष हैं।

इस प्रकार अनेकान्त जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। यह सत्य शोध का वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा वैचारिक समन्वय और व्यावहारिक समस्याओं का समाधान है।

3.7 सारांश

अनेकान्त जैन दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है। वस्तु में अनन्त-विरोधी धर्म-नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सामान्य-विशेष आदि सापेक्षता, सह-अस्तित्व एवं समन्वय के साथ रहते हैं। वे वास्तव में विरोधी नहीं अपितु एक-दूसरे के पूरक हैं। अनेकान्त दर्शन को समझने वाला अपनी बात का आग्रह नहीं करता, वह दूसरों के कथन में भी सत्यांश देखता है। दूसरों के विचारों को भी सम्मान देता है।

3.8 बोध-प्रश्न

1. अनेकान्त किसे कहते हैं?
2. Theory of Relativity का सिद्धान्त किसका है?
3. क्या अग्नि अदहन स्वभाव वाली हो सकती है?

इकाई-4 : आत्मवाद

संरचना

- 4.1 आत्मा एक द्रव्य है
- 4.2 आत्मा का स्वरूप
- 4.3 आत्मा के भेद-प्रभेद
- 4.4 चैतन्य गुण की अपेक्षा से भेद
- 4.5 इन्द्रिय की अपेक्षा से भेद
- 4.6 गति की अपेक्षा से भेद
- 4.7 अध्यात्म की अपेक्षा से भेद
- 4.8 सारांश
- 4.9 बोध-प्रश्न

आत्म तत्त्व भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु रहा है। आत्मा के अस्तित्व, उसके स्वरूप आदि के विषय में भारतीय मनीषियों ने प्रभूत चिन्तन किया है। पाश्चात्य दर्शन में भी आत्मा पर विमर्श हुआ है। आत्मा की अवधारणा जैन दर्शन में प्रमुख एवं मौलिक है। आत्मा के लिए जैन दर्शन में अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से जीव भी एक है। यद्यपि जो जन्म-मरण करे, वह जीव कहलाता है और आत्मा शब्द से मुक्त आत्मा

का बोध होता है। लेकिन जैन दर्शन में जीव और आत्मा एक ही तत्त्व के दो नाम हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। सम्पूर्ण जैन आचार मीमांसा आत्मवाद की अवधारणा पर अवलम्बित है अतः आत्म तत्त्व को समझना आवश्यक है।

4.1 आत्मा एक द्रव्य है

जो तत्त्व चेतन स्वरूप है, ज्ञानवान है, सभी को जानता-देखता है और सुख-दुःख का अनुभव करता है, उसे जीव या आत्मा कहते हैं। जैन दर्शन में आत्मा को अमूर्त, अविनाशी और असंख्यात प्रदेशी एक अखण्ड द्रव्य माना गया है। द्रव्य के दो लक्षण हैं, पहला—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हो, वह सत् (द्रव्य) है। दूसरा—जो गुण-पर्याय से युक्त हो, वह द्रव्य है। आत्मा एक द्रव्य है अतः द्रव्य के ये दोनों लक्षण आत्मा में पाए जाते हैं। आत्मा के पूर्व पर्याय का विनाश (व्यय) होता है और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती है किन्तु द्रव्य दृष्टि से जो पूर्व-पर्याय में था, वही उत्तर-पर्याय में रहता है अतः द्रव्य का पहला लक्षण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य आत्मा में पाया जाता है।

द्रव्य का दूसरा लक्षण—द्रव्य, गुण और पर्याय युक्त होता है—यह भी आत्मा में पाया जाता है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्तत्व—ये आत्मा के विशेष गुण हैं तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि आत्मा के सामान्य गुण हैं। आत्मा में स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार की पर्याय पायी जाती हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य को आत्मा की स्वभाव पर्याय कहा गया है तथा मनुष्य, तिर्यच, नारक और देव गतियों में आत्म-प्रदेशों का शरीर के आकार में परिणमन होने को आत्मा की विभाव पर्याय कहा गया है।

4.2 आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसने आत्मा के अस्तित्व के साथ-साथ उसके स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। जैन दर्शन में शुद्धात्मा (मुक्त आत्मा) और अशुद्धात्मा (संसारी आत्मा) की दृष्टि से आत्मा के दो भेद किये गए हैं। जो सभी कर्मों से मुक्त होकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह शुद्धात्मा है और जो कर्मों से युक्त होने के कारण संसार में अनादि काल से परिभ्रमण कर रही है, वह अशुद्धात्मा है।

जैन आचार्यों ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन भावात्मक और निषेधात्मक दोनों दृष्टियों से किया है। भावात्मक पद्धति में उन्होंने बतलाया कि आत्मा क्या है और निषेधात्मक पद्धति में उन्होंने बतलाया कि आत्मा क्या नहीं है।

शुद्धात्म-स्वरूप को बताते हुए आचार्य कुंदकुंद ने कहा—आत्मा निर्ग्रन्थ, वीतराग, निःशल्य और क्रोध, मान, माया, लोभ से रहित है। वह उपयोग स्वरूप, अमूर्त, अनादि-निधन, सत्-चित-आनन्द स्वरूप है। वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य युक्त है। उस शुद्ध आत्मा का शब्दों के द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। तर्क और बुद्धि के द्वारा उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसका न कोई रूप है और न कोई रंग, न कोई गंध है और न कोई स्पर्श। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श पुद्गल के लक्षण हैं। आत्मा पुद्गल नहीं है।

प्रश्न होता है आखिर आत्मा है क्या? उसका स्वरूप क्या है? उसका कार्य क्या है? इस सन्दर्भ में उसकी विधायक परिभाषा देते हुए कहा गया—शुद्धात्मा केवल ज्ञाता है। वह सर्वतः चैतन्यमय है। उसे बताने के लिए कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी सत्ता है। उसका बोध कराने वाला कोई पद नहीं है। वह अज्ञेय, अदृश्य और निरुपमेय है।

द्रव्य-संग्रह में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।

भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सोविस्स सोड्ढगई।।

आत्मा उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्ता है, देह-परिमाणी है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

1. **उपयोगमय स्वरूप**—आत्मा का स्वरूप उपयोग है। ज्ञान और दर्शन उपयोग कहलाता है। आत्मा जिसके द्वारा जानता है, उसे ज्ञान उपयोग तथा जिसके द्वारा देखता है, उसे दर्शन उपयोग कहा जाता है। ज्ञान का अर्थ विशेष बोध और दर्शन का अर्थ सामान्य बोध है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये ज्ञानोपयोग हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन—ये चार दर्शनोपयोग हैं। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सिद्धों तक में यह ज्ञान और दर्शन कम या अधिक रूप में पाया जाता है। ज्ञान-दर्शन का पूर्ण विकास केवलज्ञानी और सिद्धों में होता है।

2. **अमूर्त स्वरूप**—जैन दर्शन में आत्मा को अमूर्त माना गया है। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में पुद्गल के गुण स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि नहीं होते, इसलिए वह अमूर्त है। किन्तु कर्मों से बद्ध होने के कारण संसारी आत्मा में रूप, रस, गंध आदि पाए जाते हैं, जिससे उसे कथंचित् मूर्त भी माना जाता है, पर यह मूर्तत्व चेतना का विभाव है, स्वभाव नहीं। अतः आत्मा का शुद्ध स्वरूप अमूर्त है।

3. **कर्ता स्वरूप**—आत्मा शरीर से युक्त है तब तक वह शुभाशुभ कर्मों की कर्ता है। पर वास्तव में शुद्ध आत्मा जड़ कर्मों की कर्ता नहीं अपितु चैतसिक भावों की कर्ता है।

4. **देहपरिमाणत्व स्वरूप**—निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा का कोई शरीर और आकार नहीं होता किन्तु संसारी आत्मा बिना शरीर के नहीं रह सकती। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देहपरिमाण है। उसे अपने कर्मों के अनुसार जैसा छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, वह उसी में व्याप्त हो जाता है। चीटी जैसा छोटा शरीर मिलने पर आत्म-प्रदेश संकुचित और हाथी जैसा मोटा शरीर मिलने पर वे विस्तृत हो जाते हैं। अतः संसारी आत्मा संकोच-विकोच की शक्ति के कारण देह-परिमाण हैं।

5. **भोक्ता स्वरूप**—आत्मा कर्मों की कर्ता है अतः वह अपने किए कर्मों की भोक्ता भी है। व्यवहार में संसारी आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों की भोक्ता है और निश्चय में वह अपने चैतन्यात्मक आनन्द स्वरूप की भोक्ता है।

6. **संसारी स्वरूप**—संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण करने वाली आत्मा कर्मों से बद्ध होने के कारण अशुद्ध है। वह पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को नष्ट कर शुद्ध होती है। यदि आत्मा पहले संसारी न होती तो उसकी मुक्ति के उपाय की खोज भी व्यर्थ होती।

7. **सिद्ध स्वरूप**—जब तक जीव राग-द्वेषादि विषय विकारों से ग्रसित रहता है, तब तक वह संसारी कहलाता है और जब सम्पूर्ण कर्मों से अपने आपको मुक्त कर लेता है तो वह सिद्ध कहलाता है।

8. **ऊर्ध्वगामित्व स्वरूप**—आत्मा की स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगति है। जैसे दीपक की लौ स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही शुद्ध दशा में आत्मा भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाली है। हवा से प्रकम्पित दीपक की लौ जैसे टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है, वैसे ही अशुद्ध आत्मा कर्मों की हवा से प्रेरित होकर चारों गतियों में इधर-उधर भ्रमण करती है। कर्मों से मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण आत्मा सीधे लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाती है।

9. **परिणामीनित्यत्व स्वरूप**—आत्मा परिणामीनित्य है। परिणामीनित्य से तात्पर्य यह है कि आत्मा न केवल नित्य, न केवल अनित्य अपितु नित्यानित्य है अर्थात् नित्य भी है, अनित्य भी है। अस्तित्व की दृष्टि से आत्मा का कभी नाश नहीं होता अतः वह नित्य है किन्तु उसमें परिणामन का क्रम कभी समाप्त नहीं होता, हर क्षण परिवर्तन होता रहता है, अतः वह अनित्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप उपयोगमय, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, देहपरिमाण, ऊर्ध्वगामी, परिणामीनित्य आदि माना गया है।

4.3 आत्मा के भेद-प्रभेद

जैन दर्शन में आत्मा के भेद-प्रभेद अनेक दृष्टियों से किये गए हैं। द्रव्य की दृष्टि से सभी आत्माएँ एकरूप हैं, उनमें कोई भेद-प्रभेद नहीं है। आठों कर्मों से मुक्त होने पर मुक्तावस्था को प्राप्त सिद्ध आत्माओं में कोई अन्तर नहीं होता। पर्याय की दृष्टि से आत्माओं में भिन्नता पायी जाती है। आत्मा के वर्गीकरण की जितनी विभिन्नता जैन दर्शन में पायी जाती है, उतनी अन्य किसी दर्शन में नहीं। जैन दर्शन में विविध दृष्टियों से आत्मा के भेद-प्रभेदों का विवेचन किया गया है, जिनमें मुख्य हैं—

1. चैतन्य गुण की व्यक्तता-अव्यक्तता की अपेक्षा से भेद।
2. इन्द्रिय की अपेक्षा से भेद।
3. गति की अपेक्षा से भेद।
4. अध्यात्म की अपेक्षा से भेद।

4.4 चैतन्य गुण की अपेक्षा से भेद

आत्मा का गुण चैतन्य है। यह चैतन्य गुण सभी आत्माओं में समान रूप से व्यक्त (प्रकट) नहीं रहता। चैतन्य गुण की व्यक्तता और अव्यक्तता के आधार पर आत्मा के दो भेद किये गए हैं—स्थायर आत्मा और त्रस आत्मा।

1. स्थावर आत्मा

जिसमें गमन करने की शक्ति का अभाव होता है, उसे स्थावर आत्मा कहते हैं। जिनमें सुख की प्रवृत्ति और दुःख से निवृत्ति के लिए सलक्ष्य गमनागमन की क्रिया नहीं होती वे स्थावर जीव के अन्तर्गत आते हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति के जीव स्थावर कहलाते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय से जीव स्थावर बनता है। ये अपने सुख-दुःख के लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं कर सकते। स्थावर काय के जीव निम्नलिखित हैं—

1. **पृथ्वीकायिक**—काय का अर्थ है—शरीर। पृथ्वी है जिन जीवों का शरीर, वे जीव पृथ्वीकायिक हैं। मिट्टी, बालू, लवण, सोना, चांदी, हीरा, पन्ना, कोयला आदि पृथ्वीकायिक जीवों के प्रकार हैं।
2. **अपकायिक**—पानी जिन जीवों का शरीर है, वे अपकायिक जीव हैं। सब प्रकार का पानी, ओले, कुहरा, ओस आदि अपकायिक जीव हैं।
3. **तैजसकायिक**—जिन जीवों का शरीर अग्नि है, वे जीव तैजसकायिक जीव कहलाते हैं। अंगारा, ज्वाला, उल्का आदि का समावेश तैजसकायिक जीवों में होता है।
4. **वायुकायिक**—जिन जीवों का शरीर वायु है, वे जीव वायुकायिक कहलाते हैं। संसार में जितने प्रकार की वायु है, उन सबका समावेश इसमें हो जाता है।
5. **वनस्पतिकायिक**—जिन जीवों का शरीर वनस्पति है, वे जीव वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। कंद, मूल, टमाटर, ककड़ी, वृक्ष आदि का समावेश इसमें होता है।

2. त्रस आत्मा

त्रस आत्मा में चैतन्य व्यक्त होता है और स्थावर आत्मा में अव्यक्त। जो जीव सुख पाने के लिए और दुःख से निवृत्त होने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन कर सकते हैं, वे जीव त्रस कहलाते हैं। त्रस नाम कर्म के उदय से जीव त्रस बनता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस जीव के अन्तर्गत आते हैं।

उत्पत्ति के आधार पर त्रस जीवों के आठ प्रकार हैं—

1. **अण्डज**—वे त्रस जीव, जो अण्डों से पैदा होते हैं, जैसे—पक्षी, सर्प आदि।
2. **पोतज**—वे त्रस जीव, जो अपने जन्म के समय खुले अंगों सहित होते हैं, जैसे—हाथी आदि।
3. **जरायुज**—वे त्रस जीव, जो अपने जन्म के समय मांस की झिल्ली में लिपटे रहते हैं, जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस आदि।
4. **रसज**—वे त्रस जीव जो दही आदि रसों में उत्पन्न होते हैं, जैसे—कृमि आदि।
5. **स्वेदज**—वे त्रस जीव, जो पसीने से उत्पन्न होते हैं, जैसे—जूं, लीख आदि।
6. **सम्मूर्च्छिम**—वे त्रस जीव, जो नर-मादा के संयोग के बिना ही उत्पन्न होते हैं, जैसे—मकखी, चीटी आदि।
7. **उद्भिज**—वे त्रस जीव, जो पृथ्वी को फोड़कर निकलते हैं, जैसे—टिड्डी, पतंगा आदि।
8. **औपपातिक**—वे त्रस जीव, जो गर्भ में रहे बिना ही स्थान विशेष में पैदा होते हैं, जैसे—देव, नारक आदि।

4.5 इन्द्रिय की अपेक्षा से आत्मा के भेद

आत्मा का लिंग इन्द्रिय है। जैन दर्शन में स्पर्शन (त्वचा), रसन (जीभ), घ्राण (नाक), चक्षु (आँख) और श्रोत्र (कान)—ये पांच इन्द्रियां मानी गई हैं, अतः इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारी आत्मा के पांच भेद हो जाते हैं—

1. **एकेन्द्रिय आत्मा**—जिनमें केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भेद से एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के होते हैं।
2. **द्वीन्द्रिय आत्मा**—जिनमें स्पर्शन और रसन—ये दो इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं। कृमि, लट, शंख आदि दो इन्द्रिय वाले जीव हैं।
3. **त्रीन्द्रिय आत्मा**—जिनमें स्पर्शन, रसन और घ्राण—ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं। चीटी, मकोड़ा, जूं, खटमल आदि तीन इन्द्रिय वाले जीव हैं।
4. **चतुरेन्द्रिय आत्मा**—जिनमें स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु—ये चार इन्द्रियां होती हैं, उन्हें चतुरेन्द्रिय जीव कहते हैं। मकड़ी, मच्छर, भौरा, मधुमकखी आदि चार इन्द्रिय वाले जीव हैं।
5. **पंचेन्द्रिय आत्मा**—जिनमें स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—ये पांच इन्द्रियां होती हैं, उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। पशु, पक्षी, नारक, देव, मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी संसारी प्राणी हैं। इनमें विकास के तारतम्य का आधार इन्द्रिय चेतना है अतः इन्द्रियों के आधार पर जीवों का यह वर्गीकरण किया गया है।

4.6 गति की अपेक्षा से आत्मा के भेद

गति की अपेक्षा से आत्मा के चार भेद हैं। गति शब्द का अर्थ है—चलना। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, पर यहां पर गति शब्द का प्रयोग एक जन्मस्थिति से दूसरी जन्मस्थिति को प्राप्त करने के लिए होने वाली जीव की यात्रा से है। जैसे मनुष्य अवस्था में स्थित जीव की गति मनुष्य गति है और वही जीव मृत्यु के बाद तिर्यच, नारक, देव जिस अवस्था को प्राप्त करता है, उसके आधार पर उसकी तिर्यच गति, नरक गति और देव गति कहलाती है। संसारी जीवों की मुख्य जन्म-स्थितियाँ चार हैं। उन्हें चार गति कहते हैं—नरक गति, तिर्यच गति, मनुष्य गति और देव गति।

1. **नरक गति**—नरक गति में रहने वाले जीव नरक कहलाते हैं। इनका आवास स्थान अधोलोक में होता है। इनमें रहने वाले जीव बहुत अधिक कष्ट का अनुभव करते हैं। नरक गति में उन जीवों को जाना पड़ता है, जो अत्यधिक क्रूर कर्म और बुरे विचार वाले होते हैं।

2. **तिर्यच गति**—इस गति में रहने वाले जीव संख्या में सबसे अधिक हैं। एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीव निश्चित रूप से तिर्यच होते हैं, कुछ पंचेन्द्रिय जीव भी तिर्यच होते हैं, जैसे—पशु-पक्षी आदि। इनके भी अनेक प्रकार हैं, जैसे—मछली आदि जल में रहने वाले जलचर पंचेन्द्रिय हैं। गाय, भैंस आदि भूमि पर रहने वाले स्थलचर पंचेन्द्रिय हैं। कबूतर, मोर आदि आकाश में उड़ने वाले खेचर पंचेन्द्रिय हैं।

3. **मनुष्य गति**—मनुष्य की अवस्था को प्राप्त करना मनुष्यगति है। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—संज्ञी और असंज्ञी। जिन मनुष्यों के मन होता है, वे संज्ञी कहलाते हैं और जिनके मन नहीं होता, वे असंज्ञी कहलाते हैं। संज्ञी मनुष्य गर्भ से उत्पन्न होते हैं और असंज्ञी मनुष्य मल-मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों में पैदा होते हैं। ये बहुत सूक्ष्म होते हैं अतः हमें दिखलाई नहीं देते हैं।

4. **देव गति**—जो जीव देव-योनि में पैदा होते हैं, उनकी देव गति है। देवता चार प्रकार के हैं—भवनपति देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव। असुरकुमार, नागकुमार आदि भवनपति देव हैं। भूत, पिशाच, यक्ष आदि व्यन्तर देव हैं। सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क देव हैं तथा ऊर्ध्वलोक के विमानों में निवास करने वाले वैमानिक देव हैं।

4.7 अध्यात्म की अपेक्षा से आत्मा के भेद

अध्यात्म का विकास सभी आत्माओं में समान नहीं होता अतः अध्यात्म की अपेक्षा से भी आत्मा के तीन भेद किये गए हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

1. **बहिरात्मा**—सम्यक् दृष्टि के अभाव में जब व्यक्ति अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भूलकर आत्मा से भिन्न शरीर, इन्द्रिय-विषय, स्त्री, पुरुष, धन आदि बाह्य पदार्थों में आसक्ति रखता है, तब वह बहिरात्मा कहलाता है।

2. **अन्तरात्मा**—सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति होने पर जब व्यक्ति आत्मा और शरीर के भेद को समझने लगता है। बाह्य पदार्थों के प्रति होने वाली आसक्ति को कम कर आत्मा के सच्चे स्वरूप को पाने के लिए उस ओर उन्मुख होता है तब वह अन्तरात्मा कहलाता है।

3. **परमात्मा**—जब व्यक्ति अपनी साधना के द्वारा समस्त कर्मों का नाश कर आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो उसे परमात्मा कहते हैं।

4.8 सारांश

इस प्रकार जैन दर्शन में जहाँ आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन किया गया है, वही संसारी आत्मा के भेद-प्रभेदों का भी सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार हर आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है।

4.9 बोध-प्रश्न

1. आत्मा का स्वरूप क्या है?
2. स्थावर किसे कहते हैं?
3. अन्तरात्मा किसे कहते हैं?

इकाई-5 : कर्मवाद

संरचना

- 5.1 कर्म की परिभाषा
- 5.2 कर्म बंध का कारण
- 5.3 कर्म बंध के प्रकार
- 5.4 कर्म के आठ प्रकार
- 5.5 कर्मों को बदला जा सकता है
- 5.6 कर्म बंध की दस अवस्थाएँ
- 5.7 सारांश
- 5.8 बोध-प्रश्न

कर्म सिद्धान्त जैन दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका संबंध अतीत, वर्तमान और भविष्य—तीनों काल के साथ है अतः इसे समझे बिना जीवन को समग्रता से नहीं समझा जा सकता है। संसार में विचित्रता और विविधता दिखाई देती है। कोई गरीब है, कोई अमीर है, कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई सुन्दर है, कोई कुरूप है, कोई पशु है, कोई पक्षी है, कोई एक इन्द्रिय वाला है, कोई पांच इन्द्रिय वाला है। इस विविधता का हेतु कर्म है। कर्म के कारण ही सभी जीवों की स्थिति और दशा में अन्तर है।

5.1 कर्म की परिभाषा

कर्म शब्द का शाब्दिक अर्थ क्रिया है, जैसे—पढ़ना, खाना, सोना आदि क्रियाएँ कर्म हैं। जैन दर्शन में कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया अर्थ में न होकर एक विशेष अर्थ में हुआ है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म पुद्गल हैं, जड़ हैं। पुद्गल की अनेक वर्गणाएँ हैं। उनमें एक है—कार्मण-वर्गणा (कर्म बनने योग्य पुद्गल-परमाणु)।

आत्मा की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट तथा सुख-दुःख के कारणभूत इन्हीं पुद्गलों को कर्म कहते हैं। ये कर्म पुद्गल शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के स्वरूप को आवृत्त करते हैं, विकृत करते हैं और शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं। जब प्राणी अपने मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्म योग्य पुद्गल-परमाणुओं का आकर्षण होता है और वे कर्म-पुद्गल आत्मा की राग-द्वेषात्मक क्रिया के कारण चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्म-प्रदेशों से संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।

5.2 कर्म बंधन का कारण

आत्मा और कर्म का परस्पर संश्लेष हो जाना बंध कहलाता है। कर्म-बंध का मुख्य हेतु कषाय है। संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष। विस्तार से उसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग—ये पांच आश्रव भी कर्म-बंध के हेतु हैं। आत्मा स्वयं कभी भी कर्म को आकर्षित नहीं करती। वह आश्रव के माध्यम से कर्म पुद्गल को आकर्षित करती है। इन पांच आश्रवों में भी दो मुख्य हैं—कषाय और योग। जब-जब व्यक्ति योग (मन-वचन-काया) की प्रवृत्ति करता है तब-तब कर्म-पुद्गल आकर्षित होते हैं। प्रवृत्ति का कार्य यही समाप्त हो जाता है। किन्तु हमारी चेतना पर जो कषाय (राग-द्वेष) की चिकनाहट है, वह प्रवृत्ति के द्वारा लाये गए कर्म-पुद्गलों को चिपका देती है। कषाय जितना तेज होता है, कर्मों का

बंधन भी उतना ही गाढ़ा होता है। आत्मा और कर्म का यह संबंध ठीक वैसा ही है, जैसे—दूध और पानी का, अग्नि और तप्त लोह-पिण्ड का।

इस प्रकार कर्म-बंधन के मुख्य दो कारण हैं—योग और कषाय। योग (प्रवृत्ति) कर्म-पुद्गल को आकर्षित करते हैं और कषाय कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ संबंध स्थापित करवाते हैं। कर्म से मुक्ति पाने वालों के लिए आवश्यक है मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को कम करना और कषाय को मन्द करना। जैसे-जैसे प्रवृत्ति कम और कषाय मन्द होते जाएंगे, वैसे-वैसे कर्म-बंधन शिथिल होते जाएंगे। योग की पूर्ण निवृत्ति और कषाय का पूर्ण क्षय होने पर आत्मा कर्म-बंधन से मुक्त हो जाती है।

5.3 कर्म बंध के प्रकार

जैन दर्शन में बंध के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं—प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध।

1. **प्रकृति बंध**—प्रकृति का अर्थ है—स्वभाव। सामान्य रूप से ग्रहण किये गए कर्म-पुद्गलों का जो स्वभाव होता है, उसे प्रकृति बन्ध कहते हैं। राग-द्वेष के कारण जीव के साथ पौद्गलिक कर्मों का बंध निरन्तर होता रहता है। वे कर्म हमारी आत्मा के कौन-से गुण (स्वभाव) को आवरणित करेंगे, यह निर्धारण भी उसी क्षण हो जाता है। आत्मा के ज्ञान स्वभाव को आवृत्त करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म कहलाते हैं। प्रकृति की अपेक्षा कर्मों के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ प्रकार हैं।

2. **स्थिति बंध**—कर्मों की आत्मा के साथ सम्बद्ध रहने की अवधि को स्थिति-बन्ध कहते हैं। बंधने वाले प्रत्येक कर्म की काल-मर्यादा होती है। वह कितने समय बाद फल देगा, इसका निर्धारण कषाय की तीव्रता और मंदता के आधार पर होता है। जैन दर्शन में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय—इन चारों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ सागर, मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ सागर, नाम और गोत्र की बीस कोड़ाकोड़ सागर तथा आयुष्य की तैंतीस सागर की बताई गई है। वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त्त तथा शेष कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त बताई गई है।

3. **अनुभाग बंध**—कर्मों के विपाक-फल देने की शक्ति को अनुभाग बंध कहते हैं। फलदान की शक्ति का आधार भी कषाय है। कुछ कर्म तीव्र रस से बंधते हैं और कुछ कर्म मंद रस से। रागादि भावों की तरतमता के आधार पर कर्मों के फलदान की शक्ति में भी तरतमता होना स्वाभाविक है। अतः कुछ कर्म उदय में आने पर तीव्र फल देते हैं और कुछ मंद फल देते हैं।

4. **प्रदेश बंध**—कर्मों के दलसंचय को प्रदेश बंध कहते हैं। पुद्गल कर्मों के प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों के साथ संबंध होना प्रदेश बंध है।

इस प्रकार आत्मा के साथ कर्म का संबंध होते समय इन चारों बंध का निर्धारण भी हो जाता है। सबसे पहले कर्म-प्रदेश और आत्मप्रदेश मिलते हैं, जिसे प्रदेशबंध कहते हैं। उसके बाद इन बंधे हुए कर्मों की प्रकृति क्या होगी, ये कितने समय तक आत्मा के साथ संबंध बनाये रखेंगे तथा इनका फल किस प्रकार का होगा, यह निर्धारण होता है। जिसे क्रमशः प्रकृति बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध कहा गया है।

5.4 कर्म के आठ प्रकार

जैन दर्शन में आत्मा के आठ गुण माने गए हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, असंवेदन, आत्मरमण, अटल अवगाहन, अमूर्तिकपन, अगुरुलघु और निरन्तराय—इन आठ गुणों को आवरणित करने वाले आठ कर्म हैं अतः कर्म आठ प्रकार के माने गए हैं—

1. ज्ञानावरणीय कर्म,
2. दर्शनावरणीय कर्म,
3. वेदनीय कर्म,
4. मोहनीय कर्म,

5. आयुष्य कर्म,

6. नाम कर्म,

7. गोत्र कर्म,

8. अन्तराय कर्म।

1. ज्ञानावरणीय कर्म

आत्मा का पहला गुण है अनन्त ज्ञान—केवलज्ञान। आत्मा की ज्ञान-चेतना को आवृत्त करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म है। संसार में जितनी भी आत्माएँ हैं, उन सबमें अनन्तज्ञान विद्यमान है, परन्तु जब तक ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण नहीं होता, तब तक वह ज्ञान गुण कर्म से आवृत्त रहता है। जैसे-जैसे आवरण हटता है, ज्ञान प्रकट होता जाता है। ज्ञानावरणीय कर्म को आँख पर बंधी पट्टी के समान माना गया है। जिस प्रकार आँख के आगे पट्टी बंधी होने से देखने में रुकावट होती है, वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म जानने में रुकावट डालता है। ज्ञान या ज्ञानी के प्रति द्वेष रखने से, उनकी अवहेलना करने से, उनके वचनों में विरोध दिखाने से या किसी के ज्ञान प्राप्ति में विघ्न डालने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंधन होता है।

2. दर्शनावरणीय कर्म

आत्मा का दूसरा गुण है अनन्त दर्शन—केवलदर्शन। आत्मा की दर्शन-चेतना को आवृत्त करने वाला दर्शनावरणीय कर्म है। ज्ञान की भांति समस्त आत्माओं में केवलदर्शन विद्यमान है, परन्तु जब तक दर्शनावरणीय कर्म क्षीण नहीं होता तब तक वह 'दर्शन' कर्म से आवृत्त रहता है। जैसे-जैसे आवरण हटता है, दर्शन प्रकट होता जाता है। दर्शनावरणीय कर्म प्रहरी के समान है। जिस प्रकार प्रहरी की अनुमति के बिना राजा या किसी बड़े आदमी से मिलना संभव नहीं होता, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के उदय से देखने अथवा पदार्थ का सामान्य ज्ञान करने में अवरोध उपस्थित हो जाता है। दर्शन या दर्शनी के प्रति द्वेष रखने से, उनकी अवहेलना करने से, उनके वचनों में विरोध दिखाने से या किसी के दर्शन-प्राप्ति में विघ्न डालने से दर्शनावरणीय कर्म का बंधन होता है।

3. वेदनीय कर्म

आत्मा का तीसरा गुण है—असंवेदन। आत्मा के इस गुण को रोकने वाले कर्म-पुद्गलों का नाम वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म भी सातावेदनीय और असातावेदनीय के भेद से दो प्रकार का है। इसे मधु (शहद) से लिप्त तलवार की धार के समान बताया गया है। जिस प्रकार मधु से लिप्त तलवार की धार को चाटने से स्वाद का अनुभव होता है, उसके समान सातावेदनीय है और तलवार को चाटने से जीभ कट जाती है, उसके समान असातावेदनीय है। किसी भी प्राणी, जीव को कष्ट देने से, दुख पहुँचाने से, सताने से या उस पर लाठी आदि का प्रहार करने से असातावेदनीय कर्म का बंधन होता है तथा ऐसा नहीं करने पर सातावेदनीय कर्म का बंधन होता है।

4. मोहनीय कर्म

आत्मा का चौथा गुण है—आत्मरमण। इस गुण को रोकने वाले कर्म का नाम मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म चेतना को विकृत और मूर्च्छित करता है। इसे मद्यपान करने वाले के समान बताया गया है। जिस प्रकार मद्यपान करने वाले व्यक्ति को सुध-बुध नहीं रहती, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से व्यक्ति मूढ़ बन जाता है। वह अपने हित-अहित का विवेक खो देता है। तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, तीव्र लोभ आदि करने से मोहनीय कर्म का बंधन होता है।

5. आयुष्य कर्म

आत्मा का पांचवां गुण है—अटल अवगाहन। इस शाश्वत स्थिरता को रोकने वाले कर्म का नाम आयुष्य कर्म है। यह व्यक्ति को मनुष्य गति, नरक गति आदि किसी भी एक गति में निश्चित अवधि तक बांधकर रखने वाला कर्म है। आयुष्य कर्म को बेड़ी के समान बताया गया है। जिस प्रकार बेड़ी में बंधा हुआ व्यक्ति उसे तोड़े

बिना मुक्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार आयुष्य कर्म को पूरा भोगे बिना व्यक्ति एक गति (भव) से दूसरी गति में नहीं जा सकता। महाहिंसा, महापरिग्रह, मांसाहार, पंचेन्द्रिय वध आदि नरक आयुष्य बंधन के कारण हैं। माया करना, असत्य वचन बोलना, कूट तोल-माप करना आदि तिर्यच आयु बंधन के कारण हैं। सरल और विनीत प्रकृति का होना तथा ईर्ष्या आदि नहीं करना मनुष्य आयुष्य बंधन के कारण हैं। संयम का जीवन जीना, त्याग और व्रत का जीवन जीना, देव आयुष्य बंधन के कारण हैं।

6. नाम कर्म

आत्मा का छठा गुण है—अमूर्तिकपन। अमूर्तिकपन अर्थात् आत्मा का कोई रूप, रंग, आकार नहीं होता। आत्मा के इस गुण को रोकने वाला कर्म है—नामकर्म। हमें शरीर, रूप, रंग आदि नामकर्म से प्राप्त होते हैं। नामकर्म को चित्रकार के समान बताया गया है। जिस प्रकार चित्रकार अपनी कल्पना से नये-नये चित्रों का निर्माण करता है, वैसे ही नामकर्म के उदय से तरह-तरह के शरीर, रूप, अंगोपांग आदि का निर्माण होता है। नामकर्म के दो प्रकार हैं—शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म। दूसरों को ठगने वाली शारीरिक, मानसिक और वाचिक चेष्टा करने से अशुभ नामकर्म का बंधन होता है और ठगने वाली चेष्टा न करने से शुभनाम कर्म का बंधन होता है।

7. गोत्र कर्म

आत्मा का सातवां गुण है—अगुरुलघुपन (न छोटापन और न बड़ापन)। आत्मा के इस गुण को रोकने वाले कर्म का नाम है—गोत्र कर्म। गोत्र कर्म को कुम्भकार के समान बताया गया है। जिस प्रकार कुम्भकार छोटे-बड़े जैसे चाहे वैसे ही घड़ों को तैयार करता है, वैसे ही गोत्र कर्म के उदय से जीव अच्छी दृष्टि से देखे जाने वाले, तुच्छ दृष्टि से देखे जाने वाले, ऊँच-नीच आदि बनते हैं। उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्म के भेद से गोत्र कर्म भी दो प्रकार का है। जो व्यक्ति अपनी जाति, कुल, बल, रूप, तपस्या, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि का अहंकार करता है वह नीचगोत्र का बंधन करता है और जो इनका अहंकार नहीं करता, वह उच्चगोत्र कर्म का बंधन करता है।

8. अन्तराय कर्म

आत्मा का आठवां गुण है—निरन्तराय। निरन्तराय अर्थात् किसी भी कार्य में अन्तराय, विघ्न बाधा का न होना। आत्मा के इस गुण को रोकने वाला कर्म है—अन्तराय कर्म। यह आत्म-शक्ति की उपलब्धि में बाधा पहुंचाता है। अन्तराय कर्म को कोषाध्यक्ष के समान बताया गया है। जिस प्रकार राजा का आदेश होने पर भी कोषाध्यक्ष के दिए बिना वह वस्तु नहीं मिलती, उसी प्रकार अन्तराय कर्म दूर हुए बिना इच्छित वस्तु नहीं मिलती। मिल जाने पर भी अन्तराय कर्म दूर हुए बिना वह उनका भोग नहीं कर सकता। किसी के दान देने में, लाभ प्राप्ति में, वस्तु के भोग-उपभोग में बाधा डालने पर अन्तराय कर्म का बंधन होता है।

इन आठ कर्मों को दो भागों में बांटा गया है—घाति कर्म और अघाति कर्म। जो कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों का घात-नाश करते हैं, वे घाति कर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घाति कर्म कहलाते हैं। जो कर्म आत्मा के मूल गुणों का घात नहीं करते, वे अघाति कर्म कहलाते हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार अघाति कर्म हैं।

5.5 कर्मों को बदला जा सकता है

जैन दर्शन में कर्म दो प्रकार के माने गए हैं—निकाचित कर्म और दलिक कर्म। जिन कर्मों को बदला नहीं जा सकता, जिस रूप में कर्म बंधन हुआ है, उसी रूप में उसका फल भोगना पड़ता है, उसे निकाचित कर्म कहते हैं। जिन कर्मों की प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को बदला जा सकता है, उन्हें दलिक कर्म कहते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म सर्वशक्ति-सम्पन्न सत्ता नहीं है। उसकी अपनी सीमा है। वह उसी आत्मा को प्रभावित करता है, जो राग-द्वेष युक्त है। राग-द्वेष मुक्त आत्मा पर कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब आत्मा के चैतन्य स्वभाव का जागरण होता है तब कर्म की सत्ता डगमगाने लगती है। यदि सही दिशा में व्यक्ति का पुरुषार्थ जागृत हो जाए तो पाप कर्म को पुण्य में भी बदला जा सकता है। कर्मों की स्थिति और विपाक को

भी कम किया जा सकता है। कर्मों का विपाक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से होता है। निमित्तों के प्रति जागरूक होने पर कर्म-फल में परिवर्तन लाया जा सकता है। ध्यान, स्वाध्याय, तप आदि साधनों से कर्म एवं कर्म-फल को बदला जा सकता है।

प्रश्न होता है कि कर्म जड़ हैं अतः वे यह नहीं जानते कि अमुक आत्मा ने यह काम किया है, अतः उसे यह फल मिलना चाहिए। फिर कर्मों का फल कौन देता है? जैन दर्शन के अनुसार यह सच है कि कर्म जड़ हैं, उनमें ज्ञान नहीं है पर आत्मक्रिया के द्वारा जब वे शुभाशुभ कर्म पुद्गल आकृष्ट होते हैं तो उनके संयोग से आत्मा की वैसी ही परिणति हो जाती है, जिससे आत्मा को उसके अनुसार फल मिल जाता है। जिस प्रकार बोतल में भरी शराब में नशा नहीं होता किन्तु जब वही शराब कोई व्यक्ति पीता है तो वह नशे से झूम उठता है। जिस प्रकार व्यक्ति की चेतना के संसर्ग से शराब में नशा पैदा हो जाता है, उसी प्रकार जड़ कर्म पुद्गल भी आत्मा के संसर्ग से शुभाशुभ फल देने में समर्थ हो जाते हैं।

आत्मा और कर्म का यह संबंध अनादि काल से चला आ रहा है और जब तक कर्म-बंध के कारण राग-द्वेष विद्यमान है, तब तक यह संबंध बना रहेगा। जब व्यक्ति संवर के द्वारा कर्म आने के द्वार को बंद कर देता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय कर देता है तब आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

5.6 कर्म बंध की दस अवस्थाएँ

सूत्रकृतांग सूत्र में कर्मबंध के संबंध में कहा गया है—‘जैसा कर्म बांधा हुआ है, वैसा फल भोगना पड़ेगा’। इस कथन की वास्तविकता को न समझने के कारण कुछ लोगों की यह धारणा बन जाती है कि कर्म बंधन में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जैसा बांधा है, वैसा ही भोगना पड़ेगा। उसे शिथिल या प्रगाढ़ नहीं किया जा सकता। जैन कर्म विज्ञान के अनुसार यह बात सत्य है कि जैसा कर्म बंध होता है, वैसा ही उसका फल कर्ता को भोगना पड़ता है तथापि यह भी सत्य है कि उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। जैन दर्शन के अनुसार दो प्रकार के कर्म माने जाते हैं—निकाचित कर्म और दलिक कर्म। जिन कर्मों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता, वे निकाचित कर्म कहलाते हैं तथा जिन कर्मों में परिवर्तन किया जा सकता है, वे दलिक कर्म कहलाते हैं।

जीव के शुभ-अशुभ भावधारा के आधार पर दलिक कर्मों में परिवर्तन होता रहता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ पर्याय की दृष्टि से परिवर्तनशील है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया कर्म के साथ भी जुड़ी हुई है, जिसके आधार पर कर्म की निम्नलिखित दस अवस्थाएँ बनती हैं—

- | | |
|---------------|--------------|
| 1. बंध, | 2. सत्ता, |
| 3. उदय, | 4. उदीरणा, |
| 5. उद्वर्तना, | 6. अपवर्तना, |
| 7. संक्रमण, | 8. उपशाम, |
| 9. निधत्ति, | 10. निकाचना। |

1. बंध

आत्मा और कर्मों के एकीभूत होने की अवस्था को बंध कहा जाता है। इस अवस्था में कर्म प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों के साथ नीर-क्षीरवत् संबंध हो जाता है। कर्म बंध की यह महत्त्वपूर्ण अवस्था है। कर्मबंध के समय ही उस कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग आदि का निर्धारण भी हो जाता है।

2. सत्ता

कर्मबंध की दूसरी अवस्था सत्ता है। सत्ता का सामान्य अर्थ अस्तित्व है। कर्म-बंध होने के बाद जब तक कर्म उदय में नहीं आता, तब तक सत्ता में (In the potential state) रहता है अर्थात् वे कर्म अपना फल देने में

तत्पर नहीं होते। उनकी फलदान शक्ति सुषुप्तावस्था में रहती है। वे सुख-दुःख के कारण नहीं बनते। जैसे मदिरापान करते ही अपना असर नहीं दिखाती, किन्तु कुछ देर बाद असर करती है, वैसे ही कर्म भी बंधने के बाद तत्काल अपना फल नहीं देते, सत्ता में मौजूद रहते हैं।

3. उदय

कर्मों के फल देने की अवस्था का नाम उदय है। जितनी स्थिति लेकर कर्म बंधा है, वह स्थिति पूरी होने पर कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं। फल देने की इस अवस्था को उदय कहा जाता है। जिस तरह बीज बोने पर वह कुछ दिन जमीन में पड़ा रहता है और कुछ दिनों बाद अंकुरित व पल्लवित होकर वृक्ष बनता है तथा फल प्रदान करता है। उसी प्रकार कर्मबीज का बंध होते ही फल नहीं मिलता। वह सत्ता में पड़ा रहता है और नियत समय के बाद फल प्रदान करता है।

जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही प्रकाश और ताप दोनों प्रारम्भ हो जाते हैं, उसी प्रकार बंधा हुआ कर्म उदय में आते ही शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख रूप फल मिलना प्रारम्भ हो जाता है। उदय के मुख्यतया दो प्रकार हैं—

1. विपाकोदय,
2. प्रदेशोदय।

जैनदर्शन के अनुसार जितने भी कर्म बंधते हैं, वे अपना फल अवश्य देते हैं किन्तु कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जो उदय में तो आते हैं, किन्तु फल की अनुभूति कराये बिना नष्ट हो जाते हैं। कर्म के इस उदय को प्रदेशोदय कहा जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जो फल की अनुभूति करवाकर नष्ट होते हैं, उन्हें विपाकोदय कहा जाता है।

जिस प्रकार ऑपरेशन करते समय रोगी को क्लोरोफॉर्म सुंघाकर अचेतन अवस्था में शल्य क्रिया की जाये तो उसे वेदना की अनुभूति नहीं होती और क्लोरोफॉर्म बिना सुंघाये चेतन अवस्था में शल्यक्रिया की जाये तो वेदना की अनुभूति होती है। उसी प्रकार प्रदेशोदय में वेदना की अनुभूति नहीं होती जबकि विपाकोदय में वेदना की अनुभूति होती है।

4. उदीरणा

नियतकाल से पूर्व कर्म का उदय में आना और फल देना उदीरणा है। जिस प्रकार आम, केला आदि फलों को पकने से पूर्व कृत्रिम रूप से पकाया जा सकता है और उसका उपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार संचित कर्मों की स्थिति जो अभी पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु तपस्या, साधना आदि के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों को खींचकर समय से पूर्व ही उदय में लाना और उसका फल भोगना उदीरणा कहलाता है।

उदय और उदीरणा में इतना ही अन्तर है कि नियत काल में कर्म का फल मिलना उदय कहलाता है और उदीरणा में प्रयत्न से नियत काल से पूर्व कर्म को उदय में लाकर फल प्राप्त किया जाता है।

जिस प्रकार भविष्य में होने वाली कोई व्याधि (शारीरिक रोग) का यंत्र आदि उपकरणों से पता लगाकर इंजेक्शन, दवाई या अन्य किसी उपचार से छुटकारा पाया जा सकता है, उसी प्रकार उदीरणा में भी कर्म रोग के प्रकट होने से पहले ही उसका फल भोगकर उस कर्म से छुटकारा पाया जा सकता है।

5-6. उद्वर्तना-अपवर्तना

कर्म बंधन के समय उस कर्म की स्थिति और अनुभाग बंध का निर्धारण हो जाता है और उसके अनुसार ही कर्म बंध का समय पूरा होने पर फल मिलता है, यह एक सामान्य अवधारणा है। जैन कर्म-विज्ञान के अनुसार यह नियम एकान्त रूप से नहीं है, कर्म की स्थिति और अनुभाग में परिवर्तन भी किया जा सकता है।

जिस क्रिया या प्रवृत्ति-विशेष से पहले बंधे हुए कर्म की स्थिति और रस में वृद्धि हो जाए, उसे उद्वर्तना कहते हैं। जिस क्रिया या प्रवृत्ति-विशेष से पहले बंधे हुए कर्म की स्थिति और रस में न्यूनता हो जाए, उसे अपवर्तना कहते हैं।

7. संक्रमण

एक कर्म प्रकृति का अन्य सजातीय कर्म प्रकृतियों में परिणत हो जाना संक्रमण कहलाता है। संक्रमण का अर्थ है—परिवर्तन, रूपान्तरण हो जाना। संक्रमण चार प्रकार से होता है—प्रकृति संक्रमण, स्थिति संक्रमण, अनुभाग संक्रमण और प्रदेश संक्रमण।

कर्म की प्रकृति का उसकी सजातीय प्रकृति में परिवर्तन होना प्रकृति-संक्रमण है। जैसे वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं—साता वेदनीय और असाता वेदनीय। इनका परस्पर में संक्रमण हो सकता है। साता वेदनीय को असाता वेदनीय में और असाता वेदनीय को साता वेदनीय में बदला जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म, अन्तराय कर्म आदि की प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण किया जा सकता है, किन्तु आयुष्य कर्म और मोहनीय कर्म में संक्रमण नहीं होता। नरक गति का आयुष्य बंध होने पर उसे नरक में ही जाना पड़ता है, अन्य गति में संक्रमण नहीं होता। इसी प्रकार दर्शन मोहनीय का चारित्र मोहनीय में और चारित्र मोहनीय का दर्शन मोहनीय में परस्पर संक्रमण नहीं होता। प्रकृति संक्रमण की भांति कर्मों की स्थिति, अनुभाग और प्रदेश में परस्पर संक्रमण होना क्रमशः स्थिति, अनुभाग और प्रदेश संक्रमण है।

आज जिस प्रकार चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में विकृत हृदय के स्थान पर स्वस्थ हृदय का, विकृत नेत्र के स्थान पर लैन्स का प्रत्यारोपण कर देने से व्यक्ति रोग की पीड़ा से बच जाता है। उसी प्रकार आत्मा इस संक्रमण की प्रक्रिया के द्वारा पूर्वबद्ध अशुभ कर्म-प्रकृति को उसकी सजातीय शुभ कर्म प्रकृति में परिवर्तित करके उसके दुःखद फल से स्वयं को बचा सकती है।

8. उपशम

कर्मों की सर्वथा अनुदय अवस्था को उपशम कहते हैं। यों तो प्रतिक्षण कर्म उदय में आते रहते हैं और अपना फल देते रहते हैं, किन्तु इस अवस्था में कुछ समय के लिए कर्मों की उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचित—इन चारों क्रियाओं को अयोग्य कर दिया जाता है। इस अवस्था में प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों प्रकार का उदय नहीं रहता।

उपशम केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। उपशम अवस्था कर्म को ढकी हुई अग्नि के समान बना देती है। जिस प्रकार राख से ढकी आग हवा आदि से पुनः प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार कर्मों की उपशम अवस्था में निमित्त के मिलते ही कर्म पुनः उदय में आकर फल देने लगते हैं। उपशम अवस्था में आत्मा के भाव पूर्णतः शुद्ध एवं निर्मल रहते हैं।

9. निधत्ति

कर्म की वह अवस्था निधत्ति कहलाती है, जहाँ उदीरणा और संक्रमण नहीं हो सकता, किन्तु उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है। निधत्त अवस्था में कर्म अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित नहीं हो सकते और न ही अपना फल प्रदान कर सकते हैं। लेकिन इसमें पूर्व बद्ध कर्मों की स्थिति और रस की तीव्रता को न्यूनाधिक किया जा सकता है।

10. निकाचना

कर्म बंध की वह अवस्था, जिसमें उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा—ये चारों अवस्थाएँ संभव न हों, उसे निकाचना (निकाचित) कहा जाता है। इस अवस्था में कर्मों का बंध इतना प्रगाढ़ होता है कि उसकी

प्रकृति, स्थिति या फलदान की शक्ति में कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता है। इस अवस्था में जिस रूप में कर्म बंधन हुआ है, उसी रूप में उसका फल अनिवार्यतः भोगना पड़ता है। बिना भोगे उसकी निर्जरा नहीं होती। किसी प्रवृत्ति में अत्यधिक आसक्ति के कारण इस अवस्था का बंध होता है। कर्म बंध की यह घातक अवस्था है। इससे बचने का एक ही उपाय है कि किसी भी प्रवृत्ति को करते समय उसमें अत्यन्त राग या आसक्ति न की जाये और न ही अत्यन्त द्वेष, ईर्ष्या, घृणा और वैर-विरोध किया जाये।

इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म की दस अवस्थाएँ बताई गई हैं। व्यक्ति सही दिशा में पुरुषार्थ करके अपनी कर्म की अवस्थाओं को अशुभ से शुभ में बदल सकता है। तीव्र विपाक को मंद विपाक में भी बदल सकता है।

5.7 सारांश

जैन दर्शन में कर्म को पौद्गलिक माना गया है। कर्म वर्गणा के पुद्गल कर्म रूप में परिणत होते हैं। कर्म बंधन का मूल कारण कषाय या राग-द्वेष है। आत्मा के आठ गुणों को आवरणित करने के कारण कर्म के आठ प्रकार हैं। निकाचित कर्मों का फल भोगना अनिवार्य होता है, उसे बदला नहीं जा सकता पर अन्य कर्मों में संक्रमण, उदीरणा आदि की जा सकती है। अच्छे को बुरे में और बुरे को अच्छे में भी बदला जा सकता है।

5.8 बोध-प्रश्न

1. कर्म किसे कहते हैं?
2. मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है?
3. उदीरणा किसे कहते हैं?

इकाई-6 : पाँच समवाय

संरचना

- 6.1 कालवाद
- 6.2 स्वभाववाद
- 6.3 नियतिवाद
- 6.4 कर्मवाद
- 6.5 पुरुषार्थवाद
- 6.6 पाँच समवाय
- 6.7 सारांश
- 6.8 बोध-प्रश्न

हर कार्य के पीछे कोई-न-कोई कारण होता है। अकारण कोई कार्य नहीं होता। चाहे वह सृष्टि की संरचना जैसा कोई महान् कार्य हो या दिन-प्रतिदिन घटित होने वाली कोई घटना हो। सभी धर्म-दर्शनों में हर घटना या कार्य के पीछे निहित कारण को जानने का प्रयास किया गया है और अपनी-अपनी दृष्टि से उसकी मीमांसा की है। वे अलग-अलग वाद के रूप में दर्शन-जगत् में प्रतिपादित हैं। जिनमें मुख्यतः पाँच वाद प्रचलित हैं—कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद और पुरुषार्थवाद।

6.1 कालवाद

कालवादी विचारक इस जगत् का कारण एकमात्र काल को मानते हैं। उनके अनुसार काल के आधार पर ही सृष्टि और प्रलय होता है। अतीत, अनागत एवं वर्तमान के समस्त भावों की निर्मिति काल के द्वारा ही होती है। बीज बोते ही वृक्ष नहीं बन जाता, उसमें काल (समय) लगता है।

बच्चा जन्म लेते ही बोलना, चलना नहीं सीख जाता। उसमें भी काल लगता है। एक ही दिन में कोई व्यक्ति विद्वान् नहीं बन जाता, उसमें भी काल लगता है। इस प्रकार काल ही समस्त घटनाओं का आधार है।

6.2 स्वभाववाद

स्वभाववाद के अनुसार जो कुछ होता है, वह सब कालकृत नहीं अपितु स्वभावकृत है। वस्तु का जैसा स्वभाव होता है, उसी के अनुरूप उसका परिणमन होता है। अग्नि ऊष्ण होती है, जल शीतल होता है। काल इनके स्वभाव को बदल नहीं सकता। पक्षी का स्वभाव है—उड़ना और मछली का स्वभाव है—तैरना। पक्षी चाहे भारत के हों या अमेरिका के, मछली चाहे लन्दन की हो या जापान की स्वभाव में समानता ही मिलेगी। इस जगत् की विचित्रता का कोई दृष्ट हेतु उपलब्ध नहीं है, यह सब स्वाभाविक है। स्वभाववाद के सन्दर्भ में बुद्धचरित का प्रसिद्ध श्लोक है—

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तां न कामकारोऽस्ति कुत प्रयत्नः।।

कांटों को तीक्ष्ण कौन बनाता है? मृगों और पक्षियों के विचित्र स्वभाव का कारण क्या है? इन सबका एक ही कारण है और वह है—स्वभाव। स्वभाववादियों के अनुसार—जिसने हंसों को सफेद बनाया, जिसने तोते को हरा बनाया, जिसने मयूर को चित्र-विचित्र रंगों का बनाया, वही हमारे जीवन का संचालक तत्त्व है और वह है—स्वभाव।

6.3 नियतिवाद

नियतिवादियों की यह सामान्य अवधारणा है कि जीवन में जो घटना घट रही है या जो कार्य किया जा रहा है, वह सब पहले से नियत अर्थात् निश्चित है। वे कहते हैं—जब, जहाँ, जैसा होना होता है, तब वहाँ, वैसा होकर रहता है और जो नहीं होना होता, वह चाहने पर भी नहीं होता। नियतिवाद के संदर्भ में कहा गया है—सभी जीव नियतिरूपी चक्र के अधीन हैं। मनुष्य में सामर्थ्य नहीं कि वह इसमें परिवर्तन कर सके।

जिस प्रकार सूत का गोला हाथ से गिरने पर खुलता चला जाता है, उसी प्रकार जो कुछ नियति में लिखा है, काल के बीतने पर स्वतः घटित होता चला जाता है। उसे बदला नहीं जा सकता।

6.4 कर्मवाद

कर्मवादी जगत् के वैचित्र्य का कारण कर्म को बतलाते हैं। उनके अनुसार जन्मान्तर में प्राप्त होने वाली इष्ट अथवा अनिष्ट फल परम्परा का कारण कर्म है। हमारी हर प्रवृत्ति का आधार पूर्वाजित कर्म संस्कार है। ईश्वर भी कर्म के अनुसार ही फल देता है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसी प्रकार का फल मिलता है। उदाहरण के लिए यदि किसान अज्ञानवश आक के बीज बो देता है तो उसका फल उसे मिलता ही है, वैसे ही व्यक्ति जो भी शुभ या अशुभ क्रिया करता है, उसका फल उसे प्राप्त होता ही है। वही फल व्यक्ति की आगे की क्रियाओं का कारण बनता है।

6.5 पुरुषार्थवाद

पुरुषार्थवाद के अनुसार इस जगत् का मूल कारण पुरुषार्थ है। व्यक्ति इस दुनियां में जो कुछ प्राप्त करता है, उसमें उसके पुरुषार्थ का मुख्य हाथ होता है। हाथ पर हाथ धरकर बैठने वाला व्यक्ति जीवन में कभी भी, कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता।

6.6 पांच समवाय

समवाय का अर्थ है—समूह। जैनदर्शन के अनुसार किसी भी कार्य की निष्पत्ति में कोई एक तत्त्व कारण नहीं होता अपितु कारण समूह का योग रहता है, जो समवाय कहलाता है। समवाय के पांच प्रकार हैं—काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ। जैन दर्शन के अनुसार ये सभी सापेक्ष हैं। किसी भी कार्य की निष्पत्ति में इन पांचों का योग रहता है। इस दृष्टि से समवाय के पांच प्रकारों की अर्थवत्ता है। आचार्य तुलसी ने अपनी पुस्तक जैन तत्त्व विद्या में इन पांचों समवायों को बड़े ही सरल ढंग से इस प्रकार समझाया है—

1. **काल**—काल नियामक तत्त्व है। इसके बिना कार्य निष्पन्न नहीं होता। आदमी कितना ही पुरुषार्थ करे, काल-लब्धि का योग होने से ही उसका परिणाम आता है। दूध से दही बनता है और दही से मक्खन। दही और मक्खन की निष्पत्ति में जितना कालक्षेप होना चाहिए, उसके होने से ही वे चीजें तैयार हो सकती हैं। औषधि का सेवन करते ही स्वास्थ्य-लाभ चाहने वाले रोगी को हताश होना पड़ता है, क्योंकि कोई भी दवा निश्चित काल के बाद ही अपना प्रभाव दिखाती है। इसी प्रकार बीज का वपन करते ही वृक्ष नहीं बनता और वृक्ष बनते ही उसमें फल नहीं लगते। एक निश्चित समय के बाद ही फूल-फल लगते हैं।

2. **स्वभाव**—जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है, वह उसी रूप में काम करती है। आम की गुठली बोन से ही आम पैदा हो सकता है। नीम के पेड़ में कभी आम के फल नहीं लगते। दीर्घ काल और प्रबल पुरुषार्थ का योग होने पर भी कोई वस्तु अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य रूप में परिणत नहीं हो सकती।

3. **नियति**—नियति का अर्थ है—भवितव्यता या होनहार। जिस घटना को जिस रूप में घटित होना है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह टल नहीं सकती। इसका नाम है—नियति। दर्शन की भाषा में यह निकाचित कर्म-बन्ध की स्थिति है। इसका सर्जक पुरुषार्थ है। पर इसकी क्रियान्विति में पुरुषार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। सही दिशा में पर्याप्त पुरुषार्थ करने पर भी सही परिणाम नहीं आता है तो उसे नियति पर ही छोड़ना पड़ता है।

4. **कर्म**—कर्म पुरुषार्थ की फलश्रुति है। इसे दूसरे शब्दों में भाग्य भी कहा जा सकता है। जब तक कर्म की अनुकूलता नहीं होती है, वांछित काम पूरा नहीं होता। एक महिला एक ही समय में दो बच्चों को जन्म देती है। उन्हें एक ही पर्यावरण में रखा जाता है और उनकी शिक्षा-दीक्षा भी साथ होती है। दोनों बच्चे समान रूप से पुरुषार्थ करते हैं। फिर भी एक विद्वान् बन जाता है और दूसरा मूर्ख रह जाता है। यह सब कर्म का खेल है।

5. **पुरुषार्थ**—कर्म और पुरुषार्थ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रथम क्षण का पुरुषार्थ पुरुषार्थ कहलाता है और वही दूसरे क्षण में कर्म बन जाता है। कर्म अच्छे होने पर भी पुरुषार्थ के बिना काम सिद्ध नहीं होता। खेत में अच्छी वर्षा होने, हल और बीज पास में होने पर भी जब तक किसान पुरुषार्थ कर बीजों का वपन नहीं करता है, खेत अंकुरित नहीं हो सकता। भोजन सामने पड़ा रहने पर भी हाथ और मुंह का पुरुषार्थ किए बिना पेट नहीं भरता।

हर काम की सफलता में इन पांचों समवायों का योग नितान्त अपेक्षित है। यदि इनमें से कोई एक तत्त्व भी असहयोग कर देता है तो बनता-बनता काम रुक जाता है। इस समूचे प्रतिपाद्य को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—एक किसान खेती करना चाहता है। उसके लिए उसे पांचों समवायों की अनुकूलता अपेक्षित होती है। अन्यथा वह अपने कृषि-कर्म में सफल नहीं हो सकता, जैसे—

काल—वर्षा का समय अथवा जिस समय सिंचाई के साधन सुलभ हों। वह भी दो-चार महीनों का समय।

स्वभाव—गेहूँ या बाजरे की फसल के लिए इन चीजों को निष्पन्न करने वाले बीज।

कर्म—संचित शुभ कर्म अथवा भाग्य की अनुकूलता।

पुरुषार्थ—जमीन को सम करने से लेकर फसल निकलने तक में किया जाने वाला श्रम।

नियति—उपर्युक्त चारों अनुकूलताओं की स्थिति में भी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहों आदि के उपद्रव का अभाव।

इन पांच कारणों में से एक भी कारण नहीं होता है तो खेती करने का उद्देश्य फलित नहीं होता। खेती की तरह किसी भी कार्य की निष्पत्ति में इन पाँचों की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई है। एक दूसरा उदाहरण ओर लें—एक विद्यार्थी स्नातक परीक्षा पास करना चाहता है। परीक्षा पास करने में पाँचों कारणों की आवश्यकता पड़ती है—

काल—स्नातक परीक्षा पास करने के लिए तीन वर्ष का समय।

स्वभाव—मन की स्थिरता, पढ़ने की रुचि एवं शिक्षण योग्य स्वभाव।

कर्म—तीक्ष्ण बुद्धि एवं स्वस्थ शरीर के लिए पूर्व कर्मों का क्षयोपशम।

नियति—नियति का योग भी अपेक्षित है।

पुरुषार्थ—चारों का शुभ संयोग प्राप्त होने पर भी महाविद्यालय जाना, पाठ याद करना आदि पुरुषार्थ परम आवश्यक हैं।

इन पांच कारणों में एक की कमी भी उद्देश्य प्राप्ति में बाधक बन जाती है।

इस प्रकार जैन साहित्य में काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ—इन सबके महत्त्व का सापेक्ष प्रतिपादन है। अन्य दार्शनिक काल, स्वभाव आदि को ही एकान्ततः सर्वेसर्वा मानकर जीवन और जगत् की व्याख्या करते हैं, जबकि जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है, अतः वह एकान्ततः काल, स्वभाव आदि को मूल कारण न मानकर काल, स्वभाव आदि के समन्वय को ही सृष्टि का नियामक मानता है। यह समन्वयपरक दृष्टिकोण ही अनेकान्त दर्शन की रीढ़ है।

भगवान् महावीर का दर्शन पुरुषार्थ का दर्शन है। आगम-साहित्य में बार-बार पराक्रम का निर्देश मिलता है। महावीर ने कहा—पुरुष तूँ पराक्रम कर। अपने वीर्य (शक्ति) का गोपन मत कर। बंधन और मोक्ष दोनों तुम्हारे ही अधीन हैं। जो व्यक्ति पराक्रम से पीछे हटता है, उसके विकास की संभावना समाप्त हो जाती है। कर्म के साथ पुरुषार्थ का योग होते ही विकास के बंद द्वार खुल जाते हैं अतः भाग्य का निर्माता पुरुषार्थ है। सम्यग् पुरुषार्थ से बुरे समय को अच्छे समय में, बुरे स्वभाव को अच्छे स्वभाव में, बुरे कर्म को अच्छे कर्म में बदला जा सकता है। वर्तमान के पुरुषार्थ का फल न मिलने पर भी वह व्यर्थ नहीं जाता, क्योंकि आज का पुरुषार्थ ही कल का भाग्य होता है। अतः सदा सही दिशा में पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।

6.7 सारांश

इस प्रकार जैन दर्शन अनेकान्तवादी होने के कारण किसी भी घटना का मूल कारण किसी एक तत्त्व को न मानकर पाँच समवाय को मानता है। प्रत्येक घटना में इन पाँचों का योग होता है। कहीं कर्म प्रबल होता है तो कहीं नियति प्रबल होती है तो कहीं पुरुषार्थ प्रबल होता है।

6.8 बोध प्रश्न

1. समवाय का अर्थ क्या है?
2. पाँच समवाय के नाम लिखें।
3. जैन दर्शन में सर्वाधिक बल किस पर दिया गया है?

अभ्यास प्रश्नावली

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अहिंसा का पालन क्यों करना चाहिए?
2. संकल्पजा हिंसा से क्या तात्पर्य है?
3. बाह्य परिग्रह क्या है?
4. अनेकान्त का अर्थ क्या है?
5. क्या एक ही व्यक्ति लेखक और वक्ता हो सकता है?
6. क्या आत्मा एक द्रव्य है?
7. आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है?
8. चार गति के नाम लिखें।
9. मोहनीय कर्म को किससे उपमित किया जाता है?
10. संक्रमण किसे कहते हैं?
11. प्रदेशोदय से क्या तात्पर्य है?
12. नियतिवाद क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. हिंसा के भेद-प्रभेद लिखें।
2. परिग्रह-परिमाण व्रत का औचित्य बताएँ।
3. सापेक्षता के सिद्धान्त को समझाएँ।
4. इन्द्रिय की अपेक्षा आत्मा के भेद-प्रभेद लिखें।
5. कर्मबंध के कारण क्या हैं?
6. किसी भी घटना में पाँचों समवाय का योग होता है, उदाहरण से समझाएँ।

निबंधात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन के अनुसार अहिंसा का विवेचन करें।
2. परिग्रह किसे कहते हैं? परिग्रह के कारणों का विवेचन करते हुए परिग्रह परिमाण व्रत के औचित्य पर प्रकाश डालें।
3. अनेकान्त सिद्धान्त का विवेचन करें।
4. आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसके भेद-प्रभेदों को समझाएँ।
5. जैन दर्शन के अनुसार कर्मवाद पर प्रकाश डालें।
6. पाँच समवाय का विवेचन करें।

संवर्ग-2 : जैन तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा

प्रस्तावना

दर्शन के अनेक पक्ष हैं—तत्त्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा, प्रमाण मीमांसा, आचार मीमांसा आदि। प्रस्तुत संवर्ग में जैन तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा का विवेचन है। तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। तत्त्व मीमांसा के आधार पर ही आचार-मीमांसा का प्रासाद निर्मित होता है। तत्त्व के मूल स्वरूप की मीमांसा करना तत्त्व-मीमांसा का विषय है। जैन दर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझाने के लिए दो पद्धतियाँ काम में ली गई हैं—जागतिक और आत्मिक। जहाँ जागतिक विवेचन की प्रमुखता है, वहाँ छः द्रव्यों की चर्चा है और जहाँ आत्मिक तत्त्व प्रमुख है, वहाँ नौ तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध होता है।

जैन दर्शन में तत्त्व के लिए सत्, द्रव्य, अर्थ, पदार्थ आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। “तस्य भावः तत्त्वम्” के आधार पर वस्तु के द्रव्य एवं भाव स्वरूप को तत्त्व कहा गया है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं सत् के अनुसार तत्त्व का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। दूसरे शब्दों में द्रव्य-पर्याय रूप है। जैन दर्शन के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। छः द्रव्य और नौ तत्त्व इन्हीं का विस्तार है।

जैन आचार मीमांसा का मुख्य उद्देश्य आत्मस्वरूप की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति। संसारी अवस्था में आत्मा का शुद्ध स्वरूप कर्मों से आवरणित रहता है। सम्यक् आचार के द्वारा आत्मा को कर्म-बंधन से मुक्त कर परमात्म-पद पर अवस्थित करना ही जैन आचार मीमांसा का ध्येय है। प्रस्तुत संवर्ग में निम्नलिखित छः इकाइयाँ हैं—

इकाई-7 : सत् का स्वरूप

इकाई-8 : लोकवाद

इकाई-9 : जैन आचार : आधार और स्वरूप

इकाई-10 : नव तत्त्व

इकाई-11 : श्रावकाचार

इकाई-12 : जैन जीवनशैली

उद्देश्य

इस संवर्ग का अध्ययन करने के बाद आप—

- ◆ जैन दर्शन में सत् (Reality) के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- ◆ षड् द्रव्य का ज्ञान कर सकेंगे।
- ◆ लोक के स्वरूप, आकार, प्रकार का परिचय पा सकेंगे।
- ◆ आचार के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- ◆ जैन आचार की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- ◆ नव तत्त्व का ज्ञान कर सकेंगे।
- ◆ श्रावक के बारह व्रतों से परिचित हो सकेंगे।
- ◆ समाज पर बारह व्रतों का प्रभाव जान सकेंगे।
- ◆ जीवनशैली के नौ सूत्रों को समझकर एवं जीवन में अपनाकर जीवन को अच्छा बना सकेंगे।

संरचना

- 7.1 सत् का स्वरूप
- 7.2 भारतीय दर्शन में सत् का स्वरूप
- 7.3 जैन दर्शन में सत् का स्वरूप
- 7.4 सत् (द्रव्य) के प्रकार
- 7.5 धर्मास्तिकाय
- 7.6 अधर्मास्तिकाय
- 7.7 आकाशास्तिकाय
- 7.8 काल
- 7.9 पुद्गलास्तिकाय
- 7.10 जीवास्तिकाय
- 7.11 सारांश
- 7.12 बोध-प्रश्न

7.1 सत् का स्वरूप

जैन दर्शन में सत्, तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ, तत्त्वार्थ आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया गया है अतः ये शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। 'सत्' शब्द का ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श करने पर यह स्पष्ट होता है कि जैन आगमों में सत् के लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया गया है। गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—भंते! तत्त्व क्या है? भगवान ने कहा—गौतम! तत्त्व वह है, जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और ध्रुव (स्थिर) रहता है। इस संवाद से स्पष्ट है कि जैन आगमों में तत्त्व या द्रव्य की सत् संज्ञा नहीं थी। जब अन्य दर्शनों में 'सत्' इस संज्ञा का समावेश हुआ तब जैन दार्शनिकों के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सत् किसे कहा जाए। सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने द्रव्य का सत् लक्षण करके इस समस्या का समाधान किया। इसके बाद उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने भी द्रव्य को सत् के रूप में व्याख्यायित किया।

7.2 भारतीय दर्शन में सत् का स्वरूप

'सत्' शब्द अस्तित्व का वाचक है। विश्व में जितने भी अस्तित्ववान पदार्थ हैं, वे सब सत् हैं। जड़ और चेतन—दोनों प्रकार के पदार्थों का समावेश सत् में हो जाता है। इस दृष्टि से सत्, वस्तु, तत्त्व, द्रव्य, पदार्थ एक ही अर्थ के बोधक शब्द हैं।

सत् के स्वरूप के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन में पांच मान्यताएँ हैं—

1. सत् का स्वरूप कूटस्थ नित्य है। उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। वेदान्त दर्शन इस सिद्धान्त का समर्थक है।
2. सत् का स्वरूप अनित्य है। वह हर क्षण परिवर्तनशील है। बौद्ध दर्शन इस सिद्धान्त का समर्थक है।
3. चेतन सत् (पुरुष) कूटस्थ नित्य तथा अचेतन सत् (प्रकृति) परिणामी नित्य है। सांख्य दर्शन इस सिद्धान्त का पोषक है।

4. परमाणु, आत्मा आदि कुछ सत् कूटस्थ नित्य तथा घट-पट आदि कुछ सत् अनित्य हैं। इस मत के समर्थक न्याय-वैशेषिक हैं।

5. सत् पदार्थ न एकान्ततः नित्य और न एकान्ततः अनित्य हैं अपितु परिणामीनित्य अर्थात् नित्यानित्य हैं। यह मतव्य जैन दर्शन का है।

7.3 जैन दर्शन में सत्

सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने सत् को परिभाषित करते हुए लिखा—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। यत् सत् तत् द्रव्यम्। गुणपर्याययुत द्रव्यम्। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। जो सत् है, वही द्रव्य है और जो द्रव्य है, वही सत् है। द्रव्य वह है, जो गुण-पर्याय से युक्त है। इस प्रकार सत् (द्रव्य) के सन्दर्भ में दो अवधारणाएँ सामने आई—

1. सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है।
2. सत् गुण-पर्याय युक्त है।

सत् की इन दोनों अवधारणाओं में मात्र शब्द भेद है, तात्पर्यार्थ में कोई भेद नहीं है। उत्पाद-व्यय के स्थान पर गुण और पर्याय तथा ध्रौव्य के स्थान पर द्रव्य शब्द का प्रयोग हुआ है। उत्पाद और व्यय परिवर्तन के अर्थात् अनित्यता के सूचक हैं और ध्रौव्य नित्यता का सूचक शब्द है। उसी प्रकार पर्याय अनित्यता का तथा द्रव्य नित्यता का सूचक है।

जैन दर्शन के अनुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य—ये तीनों बातें युगपत्—एक साथ जिसमें घटित होती हैं, वही सत् होता है। परिवर्तनशीलता और नित्यता—ये दोनों साथ रहकर ही सत् (पदार्थ) को पूर्णता देते हैं। केवल उत्पाद, केवल व्यय या केवल ध्रौव्य सत् का लक्षण नहीं बन सकता।

प्रश्न हो सकता है कि एक ही पदार्थ में एक साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की संगति कैसे हो सकती है? क्योंकि ये तीनों विरोधी प्रतीत होते हैं। जहाँ उत्पाद और व्यय है, वहाँ स्थायित्व कैसे हो सकता है और जहाँ स्थायित्व है, वहाँ उत्पाद तथा व्यय कैसे घटित हो सकता है?

इसका समाधान यही है कि ऊपर-ऊपर से देखने पर यहाँ विसंगति की प्रतीति होती है, पर सच्चाई यह है कि इनके बिना किसी पदार्थ की संगति हो ही नहीं सकती। उदाहरण के लिए सोने से कंगन, अंगूठी आदि अनेक आभूषण बनाए जाते हैं। सोने के कंगन को तोड़कर जब अंगूठी बनाई जाती है तब अंगूठी का उत्पाद और कंगन का व्यय हमें प्रत्यक्ष नजर आता है और उसी समय सोना, जो कि ध्रौव्य है, वह भी नजर आता है, क्योंकि कंगन, अंगूठी आदि अनेक पर्यायों से गुजरता हुआ भी सोना द्रव्य सदा स्थिर रहता है, उसका कभी विनाश नहीं होता। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—तीनों साथ-साथ रहते हैं। दूसरे शब्दों में द्रव्य और पर्याय—दोनों साथ-साथ रहते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान महावीर ने इस त्रिपदी की प्ररूपणा की—‘उप्पण्णेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा’। सत् (पदार्थ) उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और ध्रुव भी रहता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के साथ सत् का अविनाभावी संबंध है।

इस प्रकार अन्य दर्शनों में उपलब्ध सत् की अवधारणा का आधार जहाँ एकान्तवाद है, वहीं जैन दर्शन में सत् के स्वरूप का निर्धारण अनेकान्तवाद के आधार पर किया गया है। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं। एक अंश तो तीनों कालों में शाश्वत रहता है और दूसरा अंश सदा बदलता रहता है। इन दो अंशों में से किसी एक को स्वीकार करने से वस्तु केवल नित्य या केवल अनित्य प्रतीत होती है। परन्तु दोनों अंशों को स्वीकार करने से वस्तु का पूर्ण या यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है। इसलिए प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है।

7.4 सत् (द्रव्य) के प्रकार

द्रव्य या तत्त्व कितने हैं? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न ग्रंथों में विविध रूपों में दिया गया है। जहाँ तक द्रव्य सामान्य का प्रश्न है, सब एक हैं। वहाँ किसी प्रकार की भेद-कल्पना उत्पन्न ही नहीं होती। जो सत् है, वही द्रव्य है और वही तत्त्व है।

यदि हम द्वैत दृष्टि से देखें तो द्रव्य को दो रूपों में देख सकते हैं। ये दो रूप हैं—जीव और अजीव। चैतन्य लक्षण वाले जितने भी द्रव्य विशेष हैं, वे सब जीव विभाग के अन्तर्गत आ जाते हैं। जिनमें चैतन्य नहीं है, वे सभी द्रव्य विशेष अजीव विभाग के अन्तर्गत आ जाते हैं।

जीव और अजीव के अन्य भेद करने पर द्रव्य के छः भेद भी हो जाते हैं। वे हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इनमें जीवास्तिकाय जीव विभाग में तथा शेष पांच अजीव विभाग के अन्तर्गत आते हैं। इन छः द्रव्यों की व्याख्या जागतिक् सन्दर्भ में की जाती है—

1. धर्मास्तिकाय

पांच अस्तिकाय द्रव्यों में सबसे पहला द्रव्य है—धर्मास्तिकाय। धर्मास्तिकाय को परिभाषित करते हुए कहा गया—‘गतिसहायो धर्मः’ जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से सहायता करने वाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है, जैसे—मछली की गति में जल। जिस प्रकार मछली में तैरने की शक्ति स्वयं में निहित होती है, पर जल के अभाव में वह तैर नहीं सकती अतः जल उसकी गति में अनन्य सहायक है। यद्यपि जल मछली को तैरने के लिए प्रेरित नहीं करता पर जब वह तैरती है तो उसके तैरने में सहायता करता है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल में गति करने की शक्ति स्वयं में निहित है, फिर भी वे धर्मास्तिकाय के सहयोग के बिना गति नहीं कर सकते। इसलिए यह गति में अनन्य सहयोगी है। जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वही तक जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं। अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव और पुद्गल वहाँ गति नहीं कर सकते।

2. अधर्मास्तिकाय

अधर्मास्तिकाय दूसरा द्रव्य है। इसे परिभाषित करते हुए लिखा गया—‘स्थितिसहायोऽधर्मः’ जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से सहायता करने वाला द्रव्य अधर्मास्तिकाय है, जैसे—पथिकों के ठहरने में वृक्ष की छाया। एक चलते हुए पथिक के विश्राम में जिस प्रकार एक वृक्ष सहायक होता है, उसी प्रकार गति करते हुए जीव और पुद्गल की स्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक होता है। यद्यपि जीव और पुद्गल में गति की भांति स्थिर रहने की क्षमता भी स्वयं में ही विद्यमान है। फिर भी अधर्मास्तिकाय के अभाव में वे स्थिर नहीं हो सकते। वृक्ष पथिकों को अपनी छाया में ठहरने के लिए प्रेरित नहीं करता किन्तु कोई पथिक यदि ठहरता है तो उसमें अपेक्षित सहायता करता है। धर्मास्तिकाय की भांति अधर्मास्तिकाय भी पूरे लोक में व्याप्त है। अलोक में उसका अभाव होने के कारण जीव और पुद्गल की स्थिति अलोक में नहीं होती।

3. आकाशास्तिकाय

यह तीसरा द्रव्य है। इसे परिभाषित करते हुए लिखा गया—‘अवगाहलक्षणः आकाशः’ समस्त द्रव्यों को अवकाश (आश्रय) देने वाला तत्त्व आकाश है। लोक-व्यवहार में प्रायः नीले रंग का जो आकाश दिखाई देता है, उसे आकाश कहा जाता है। वास्तव में वह आकाश नहीं है, क्योंकि आकाश केवल ऊपर ही नहीं है, अपितु सर्वत्र है। यदि आकाश सर्वत्र न हो तो व्यक्तियों और वस्तुओं को आश्रय कौन देगा? ऊपर जो नीला आकाश दिखाई देता है, वह पौद्गलिक है। आकाशास्तिकाय कोई ठोस द्रव्य नहीं, अपितु खाली स्थान है। उसके दो विभाग किये गए हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। जैसे जल का आश्रय-स्थान जलाशय कहलाता है, वैसे ही समस्त द्रव्यों का आश्रय-स्थान लोकाकाश कहलाता है। जहाँ समस्त द्रव्य नहीं, केवल आकाश है, वह स्थान अलोकाकाश कहलाता है। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय की भांति आकाश भी एक अखण्ड द्रव्य है। लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच कोई सीमारेखा या भेदरेखा नहीं है। यह विभाजन धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के आधार पर किया गया

है। आकाश के आधार पर नहीं। आकाश के जिस खण्ड तक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य हैं, उतना खण्ड लोकाकाश है और जिस खण्ड में उनका अभाव है, वह अलोकाकाश है।

4. काल

उत्तराध्ययन सूत्र में काल का लक्षण वर्तना किया गया है। सामान्यतः व्यवहार में प्रयोग आने वाला 'समय' शब्द ही काल का सूचक है किन्तु जैन दर्शन में समय को भिन्न अर्थ में लिया गया है। समय काल का सबसे छोटा हिस्सा है। समय काल का अविभाज्य अंश है। जैन साहित्य में समय का माप इस प्रकार बताया गया है—एक परमाणु को एक आकाश-प्रदेश से दूसरे आकाश-प्रदेश तक जाने में जितना समय लगता है, वह एक समय है। जैन आचार्यों ने इसे इस रूप में भी समझाया है कि आँख की पलक झपकने और खुलने में जितना काल लगता है, उसमें असंख्यात समय बीत जाते हैं अतः समय बहुत सूक्ष्म है।

काल अस्तिकाय द्रव्य नहीं है, क्योंकि इसके प्रदेश-प्रचय नहीं होते। काल अप्रदेशी है। काल का केवल वर्तमान समय ही अस्तित्व में होता है। भूत समय तो व्यतीत हो चुका है और भविष्य समय अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। वर्तमान समय 'एक' होता है। अतः प्रदेश प्रचय न होने के कारण यह अस्तिकाय नहीं है।

काल के दो प्रकार माने गए हैं—व्यावहारिक काल और नैश्चयिक काल। समय, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, युग.... आदि व्यावहारिक काल हैं। यह काल केवल मनुष्य क्षेत्र में ही होता है तथा सूर्य-चन्द्र की गति के आधार पर इस काल का निर्धारण होता है। काल का सबसे सूक्ष्म भाग समय तथा सबसे उत्कृष्ट भाग पुद्गलपरावर्तन कहलाता है।

5. पुद्गलास्तिकाय

विज्ञान में जिसे मैटर (matter) कहा गया है, जैन दर्शन में उसे पुद्गल की संज्ञा दी गई है। पुद्गल को परिभाषित करते हुए लिखा गया है—'पूरणगलनधर्मत्वात् इति पुद्गलः'। पुद्गल शब्द में दो पद हैं—पुद् और गल। पुद् का अर्थ है—मिलना और गल का अर्थ है—गलना, टूटना। जो द्रव्य प्रतिपल-प्रतिक्षण मिलता-गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे, वही पुद्गल है। पुद्गल की दूसरी परिभाषा है—'स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गलः' अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से युक्त द्रव्य पुद्गल है। इस प्रकार पुद्गल एक ऐसा द्रव्य है, जो खण्डित भी होता है और पुनः परस्पर सम्बद्ध भी होता है। पुद्गल की सबसे बड़ी पहचान यह है कि उसे छुआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूँघा जा सकता है और देखा जा सकता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्णयुक्त होने के कारण एकमात्र पुद्गल द्रव्य रूपी है, मूर्त है। संसार में जितनी भी वस्तुएँ दिखलाई देती हैं, वे सब पुद्गल हैं।

6. जीवास्तिकाय

जिसमें चेतना होती है, उसे जीव कहते हैं। जीवास्तिकाय से तात्पर्य सम्पूर्ण जीवों के समूह से है। द्रव्य-संग्रह में जीव के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है—जीव (आत्मा) उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्त्ता है, देह परिमाण है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

इस प्रकार द्रव्य छः ही माने गए हैं, क्योंकि इनके ये विशेष गुण एक-दूसरे से नहीं मिलते। जो गुण दूसरे द्रव्यों में भी पाए जाते हैं, उनके आधार पर उन्हें स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना जा सकता। इसलिए द्रव्य छः ही हैं। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अनन्त होती हैं।

7.11 सारांश

इस प्रकार जैन दर्शन में सत् का स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त माना गया है। ये परस्पर विरोधी नहीं अपितु पदार्थ के स्वभाव हैं। कोई भी सत् पदार्थ इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य के छः प्रकार हैं।

7.12 बोध प्रश्न

1. सत् का स्वरूप अनित्य है, यह किसकी मान्यता है?
2. धर्मास्तिकाय किसे कहते हैं?
3. काल अस्तिकाय नहीं है, क्यों?

इकाई-8 : लोकवाद

संरचना

- 8.1 लोकवाद
- 8.2 लोक क्या है?
- 8.3 लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व
- 8.4 लोक के प्रकार
- 8.5 लोक का परिमाण
- 8.6 लोक का आकार
- 8.7 लोक की स्थिति
- 8.8 सारांश
- 8.9 बोध-प्रश्न

8.1 लोकवाद

विश्व, जगत्, सृष्टि अथवा संसार के लिए जैन परम्परा में सामान्य रूप से लोक शब्द का व्यवहार हुआ है। यह विराट् विश्व जो हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वह क्या है? इसका प्रारम्भ कब हुआ? इसका अन्त कब होगा? इसका आकार कैसा है? आदि अनेक प्रश्न मानव-मस्तिष्क में उभरते रहते हैं। इन प्रश्नों का समाधान विभिन्न विचारकों ने विभिन्न प्रकार से किया है। आधुनिक विज्ञान भी इन तथ्यों की खोज में अनवरत प्रयत्नशील है।

8.2 लोक क्या है?

लोक शब्द पारिभाषिक शब्द है, जो व्यवहार में प्रचलित विश्व (Cosmos अथवा Universe) का वाच्य है। यह लोक क्या है? इसका उत्तर दो रूपों में मिलता है। कहीं पर पंचास्तिकाय को लोक कहा गया है तो कहीं पर षड्द्रव्य को लोक माना गया है। भगवतीसूत्र में बताया गया है—लोक पंचास्तिकायरूप—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय रूप है। अन्य ग्रन्थों में षड्द्रव्यात्मको लोकः कहकर इन पांच अस्तिकायों के साथ छठा काल को मानकर लोक को षड्द्रव्यात्मक कहा गया है।

1. धर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से सहायक द्रव्य।
2. अधर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से सहायक द्रव्य।
3. आकाशास्तिकाय—सभी द्रव्यों को आश्रय देने वाला द्रव्य।
4. काल—द्रव्यों के परिणामन में सहायक द्रव्य।
5. पुद्गलास्तिकाय—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त द्रव्य।
6. जीवास्तिकाय—चैतन्य से युक्त द्रव्य।

इस प्रकार लोक वह है, जहाँ पर छहों द्रव्य की सहस्थिति-सहावस्थान है। इसके विपरीत अलोक वह है, जहाँ छहों द्रव्य नहीं, केवल आकाश द्रव्य है। अलोक असीम है और लोक ससीम है। ससीम होते हुए भी लोक बहुत विस्तृत है, तथापि अलोक की अपेक्षा बहुत छोटा है। दृष्टान्त की भाषा में अलोक एक कपड़े का थान है तो लोक उसके एक छिद्र के समान है।

8.3 लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व

लोक और अलोक का स्वरूप समझने के बाद प्रश्न होता है लोक और अलोक का विभाजक तत्त्व क्या है? लोक और अलोक का विभाजन शाश्वत है, अतः इसका विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होना चाहिए। इन छह द्रव्यों के अतिरिक्त और कोई शाश्वत पदार्थ नहीं है इसलिए इन्हीं में से कोई विभाजक तत्त्व होना चाहिए। आकाश विभाजक तत्त्व नहीं बन सकता, क्योंकि वह स्वयं विभज्यमान है। काल तत्त्व भी विभाजन का हेतु नहीं बन सकता क्योंकि व्यावहारिक काल मनुष्य-लोक के सिवाय अन्य लोकों में नहीं होता और नैश्चयिक काल लोक-अलोक दोनों में मिलता है, क्योंकि वह जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। काल वास्तविक द्रव्य भी नहीं है। जीव और पुद्गल गतिशील और मध्यम परिमाण वाले तत्त्व हैं जबकि लोक-अलोक की सीमा-निर्धारण के लिए कोई स्थिर और व्यापक तत्त्व होना चाहिए, अतः ये भी विभाजक तत्त्व नहीं बन सकते। अब दो द्रव्य शेष रह जाते हैं—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये दोनों स्थिर और व्यापक हैं। ये ही अखंड आकाश को दो भागों में बांटते हैं। ये दो द्रव्य जिस आकाश खण्ड में व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। अतः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक और अलोक के विभाजक तत्त्व हैं। जहाँ तक ये तत्त्व हैं, वह लोक और जहाँ खाली आकाश है, वह अलोक है। अलोक में इन दोनों तत्त्वों का अभाव होने से वहाँ जीव और पुद्गल की गति-स्थिति नहीं होती।

8.4 लोक के प्रकार

यह लोक तीन भागों में विभक्त है—

1. ऊर्ध्वलोक,
2. मध्यलोक (तिर्यक् लोक),
3. अधोलोक।

1. ऊर्ध्वलोक

जहाँ पर हम लोग रहते हैं, उससे नौ सौ योजन ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्वलोक में मुख्य रूप से देवों का निवास है। इसीलिए उसे देवलोक, ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक भी कहते हैं। अन्तिम देवलोक का नाम सर्वार्थसिद्ध है। उससे बारह योजन ऊपर सिद्ध-शिला है, जहाँ मुक्त जीव रहते हैं। इस स्थान के बाद लोक का अंत हो जाता है तथा केवल आकाश अर्थात् अलोक रह जाता है।

2. मध्यलोक

मध्यलोक 1800 योजन प्रमाण है। इस लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र परस्पर एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। इतने विशाल क्षेत्र में केवल अढ़ाई-द्वीप में ही मनुष्य का निवास माना गया है। जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और अर्धपुष्कर ये ढाई-द्वीप हैं। यद्यपि मध्यलोक का क्षेत्र विशाल है किन्तु ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की तुलना में इसका क्षेत्रफल शून्य के बराबर है।

3. अधोलोक

इस समतल भूमि के नीचे नौ सौ योजन की गहराई के बाद अधोलोक का प्रारम्भ होता है। इसका आकार औंधे किये हुए सकोरे के समान है। इसमें नीचे-नीचे क्रमशः सात पृथ्वियाँ हैं, जो सात नारकों के नाम से जानी जाती हैं। वहाँ नारक के जीव निवास करते हैं। नारकों के निवास को नरक भूमि कहते हैं। ये सात नरक भूमियाँ

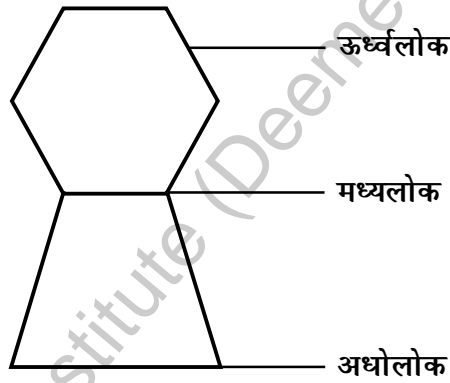
समश्रेणी में न होकर एक-दूसरे के नीचे हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई भी समान नहीं है। पहली नरक भूमि से दूसरी नरक भूमि की लम्बाई-चौड़ाई अधिक है। दूसरी से तीसरी की, इस प्रकार उत्तरोत्तर लम्बाई-चौड़ाई अधिक होती गई है। ये सातों नरक भूमियाँ एक-दूसरे के नीचे हैं, परन्तु बिल्कुल सटी हुई नहीं हैं। इनके बीच में बहुत अन्तर है। नरक के जीवों को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त भयंकर वेदना होती है। पल भर भी उन्हें चैन नहीं मिलता।

8.5 लोक का परिमाण

जैन दर्शन के अनुसार लोक चौदह रज्जु परिमाण है। ऊर्ध्वलोक सात रज्जु से कुछ अधिक का है। अधोलोक सात रज्जु से कुछ कम है। मध्य लोक अठारह सौ योजन का है। इन तीनों को मिलाकर चौदह रज्जु होता है। यह चौदह रज्जु का लोक सातवें नरक-तमस्तमा के नीचे से प्रारम्भ होकर सिद्धशिला के अन्तिम छोर तक है। रज्जु का अर्थ रस्सी होता है, पर यह कोई छोटी-मोटी रस्सी नहीं अपितु एक माप है। असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र समा जाएँ उतना बड़ा एक रज्जु होता है।

8.6 लोक का आकार

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा है और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। लोक त्रिशरावसंपुट आकार वाला है। तीन सिकोरों में से प्रथम सिकोरे को जमीन पर उल्टा, दूसरे को उस पर सीधा और तीसरे सिकोरे को उस पर पुनः उल्टा रखने से जो आकार बनता है, वही लोक का आकार है। जैन शास्त्रों में इसे त्रिशरावसंपुटाकार या सुप्रतिष्ठिक संस्थान कहा गया है। निम्न चित्र के माध्यम से हम लोक के आकार को समझ सकते हैं—



पाँव फैलाकर और कमर पर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के आकार की उपमा भी लोक के आकार के लिए दी जाती है।

8.7 लोक की स्थिति

प्रश्न होता है यह दृश्यमान जगत् किस पर ठहरा हुआ है। पुराणों में शेषनाग, कच्छप आदि पर यह विश्व अवस्थित है, ऐसी विभिन्न अवधारणाएँ हैं। भगवतीसूत्र के अनुसार गौतम ने भगवान महावीर से प्रश्न पूछा—भंते! लोक की स्थिति कितने प्रकार की है? भगवान ने कहा—लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं—

1. वायु आकाश पर स्थित है।
2. समुद्र वायु पर अवस्थित है।
3. पृथ्वी समुद्र पर स्थित है।
4. त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर स्थित हैं।
5. अजीव जीव पर प्रतिष्ठित हैं।
6. जीव कर्म से प्रतिष्ठित है।

7. अजीव जीव के द्वारा संगृहीत हैं।

8. जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं।

आकाश किसी पर प्रतिष्ठित नहीं, वह स्वप्रतिष्ठित है।

भगवती सूत्र के उपर्युक्त विवेचन का सारांश यही है कि त्रस-स्थावर आदि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि (समुद्र) है, उदधि का आधार वायु है, वायु का आधार आकाश है और आकाश स्वप्रतिष्ठित है।

प्रश्न हो सकता है कि वायु पर समुद्र और समुद्र पर पृथ्वी कैसे ठहर सकती है? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—कोई पुरुष वैज्ञानिक ढंग की बनी थैली को हवा भरकर फुला दें। फिर उसके मुँह को फीते से मजबूत गाँठ देकर बांध दें तथा इस थैली के बीच के भाग को भी बांध दें। ऐसा करने से थैली में भरी हुई हवा के दो भाग हो जाएँगे, जिससे थैली डुगडुगी जैसी लगेगी। उसके बाद थैली का मुँह खोलकर ऊपर के भाग में भरी हवा को निकाल दें और उसकी जगह पानी भरकर फिर थैली का मुँह बन्द कर दें। इसके बाद बीच का बंधन खोल दें। ऐसा करने पर जो पानी थैली के ऊपर के भाग में भरा गया है, वह ऊपर के भाग में ही रहेगा और नीचे के भाग में जो वायु है, पानी उसके ऊपर ही ठहरेगा, नीचे नहीं जा सकता, क्योंकि ऊपर के भाग में जो पानी है, उसका आधार थैली के नीचे के भाग की वायु है। जैसे थैली में हवा के आधार पर पानी ठहरा हुआ है, वैसे ही वायु के आधार पर उदधि और उदधि के आधार पर पृथ्वी प्रतिष्ठित है।

2.8 सारांश

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार लोक षड् द्रव्यात्मक है। यह अनादि अनन्त है। लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय है। यह लोक चौदह रज्जु परिमाण तथा त्रिशरावसंपुटाकार वाला है।

2.9 बोध प्रश्न

1. लोक किसे कहते हैं?
2. ऊर्ध्व लोक का परिमाण कितना है?
3. पृथ्वी किस पर स्थित है?

इकाई-9 : जैन आचार : आधार और स्वरूप

संरचना

- 9.1 जैन आचार : आधार और स्वरूप
- 9.2 आचार का अर्थ
- 9.3 आचार का स्वरूप
- 9.4 आचार का महत्त्व
- 9.5 आचार की पृष्ठभूमि ज्ञान
- 9.6 जैन आचार का आधार
- 9.7 जैन आचारशास्त्र की विशेषताएँ
- 9.8 सारांश
- 9.9 बोध-प्रश्न

9.1 जैन आचार : आधार और स्वरूप

भारतीय दर्शन की चार प्रमुख शाखाएँ हैं—तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा। इनमें से जैन दर्शन में आचार का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि आचार ही मोक्ष रूपी साध्य को प्राप्त करने का साक्षात् साधन है अतः जैन आचार मीमांसा को विस्तार से समझने से पूर्व आचार का स्वरूप और उसके आधार को समझना आवश्यक है।

9.2 आचार का अर्थ

आचार का शाब्दिक अर्थ है—आचरण। **आचर्यते इति आचारः**, जिसका आचरण किया जाए, वही आचार है। आचार शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर बना है। 'चर्' धातु का प्रयोग मुख्य रूप से गति—चलना अर्थ में किया जाता है। हमारे मन में शुभ विचारों का चलना विचार है, शुभ वाणी का प्रयोग उच्चार है और शुभ विचारों को जीवन में उतारना आचार है। अच्छे आचार से ही अच्छे विचार की उत्पत्ति होती है और अच्छे विचार से ही आचार अच्छा बनता है। अतः आचार और विचार परस्पर सापेक्ष हैं।

9.3 आचार का स्वरूप

शब्दार्थ की दृष्टि से देखें तो आचार शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे—नीति, धर्म, कर्तव्य, नैतिकता आदि। जीवन-निर्वाह के लिए जिन बातों, नियमों की पालना की जाती है, वह आचार है। तत्त्व दर्शन को समग्र रूप से समझने और व्यवहार में उतारने की प्रक्रिया आचार है। इसी से जीवनशैली परिष्कृत और परिशुद्ध होती है। समाज में प्रतिष्ठा का मूल्यांकन भी व्यक्ति का आचार और व्यवहार बनता है। इसीलिए कहा गया—आचार समाज का दर्पण है। सम्यक् आचार के पालन से न केवल सामाजिक उन्नति अपितु आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। अतः आचार ही मोक्ष-प्राप्ति का साक्षात् कारण है। जैन आचार का केन्द्र बिन्दु है—आत्मा। आत्मा के उत्थान के लिए जो भी आचरण निर्दिष्ट हैं, वही जैन आचार का स्वरूप है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। यह संबंध कब तक बना रहेगा, निश्चित नहीं है। कर्म के कारण ही आत्मा को विविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। कर्म से ही पुनर्जन्म होता है। जन्म-मरण और कर्म-परम्परा को रोकने के लिए संवर और निर्जरा की साधना आवश्यक है। संवर और निर्जरा ही जैन आचार का मूल स्वरूप है। संवर की साधना के लिए पांच चारित्र, पांच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा का अभ्यास और बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। निर्जरा में अनशन, ऊनोदरी आदि बारह प्रकार से तप की साधना कर कर्म-क्षय किये जाते हैं, जिससे आत्मा का शुद्ध स्वरूप जो ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है, प्रकट होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण आचार-शास्त्र का उद्देश्य कर्मों को नष्टकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उजागर करना है।

9.4 जैन आचार का महत्त्व

जैन परम्परा में आचार को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। आचार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया—विश्व में जितने भी प्राणी हैं, उन सभी प्राणियों में मानव श्रेष्ठ प्राणी है। सभी मानवों में ज्ञानी श्रेष्ठ है और सभी ज्ञानियों में आचारवान श्रेष्ठ है। आचार की महिमा बताते हुए वैदिक महर्षियों ने कहा—आचार से विद्या प्राप्त होती है, मनुष्य की आयु बढ़ती है। कान्ति और कीर्ति उपलब्ध होती है। ऐसा कौन-सा सद्गुण है, जो आचार से प्राप्त नहीं होता। आचार की शुद्धि होने से सत्त्व की शुद्धि होती है, सत्त्व की शुद्धि होने से चित्त एकाग्र बनता है और चित्त एकाग्र होने से साक्षात् मुक्ति प्राप्त होती है।

आचार की महत्ता बताते हुए आचार्य तुलसी ने लिखा—

है रुपया निन्यानवे, विमल विनय आचार।
शेष एक रुपया रहा, विद्या कला प्रचार।।

अर्थात् सौ रुपये में निन्यानवे रुपये का मूल्य निर्मल और विनम्र आचार को है और विद्या (ज्ञान) को एक रुपया ही मूल्य दिया गया है। इससे भी आचार के महत्त्व का मूल्यांकन किया जा सकता है।

9.5 आचार की पृष्ठभूमि ज्ञान

जैन दर्शन के अनुसार आचार की पृष्ठभूमि है—ज्ञान। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया—‘पढमं नाणं तओ दया’ पहले जानो फिर उसका आचरण करो। भगवान महावीर के आचार-शास्त्र का सूत्र है ‘ज्ञानं प्रथमो धर्मः’। ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक कर सकता है। अनाचार को छोड़कर आचार का पालन कर सकता है। सूत्रकृतांग सूत्र में भी बुद्धेज्ज तित्ठेज्जा के माध्यम से यही तथ्य प्रतिपादित किया गया है—पहले बंधन को जानो। बंधन क्या है? उसके हेतु क्या हैं? उसे तोड़ने के उपाय क्या हैं? इन सबको जानने के बाद ही बंधन को तोड़ने की दिशा में पुरुषार्थ किया जा सकता है।

अज्ञानी व्यक्ति हेय-उपादेय को जानता ही नहीं, बंधन-मोक्ष को जानता ही नहीं तो वह उसे छोड़ने और तोड़ने की दिशा में पुरुषार्थ नहीं कर सकता। धर्म-अधर्म, नैतिक-अनैतिक, श्रेय-अश्रेय के बीच भेदरेखा खींचने वाला तत्त्व है—ज्ञान।

भगवान महावीर ने ज्ञान पर ही बल नहीं दिया। अपितु ज्ञान के सार की खोज की। ‘णाणस्स सारमायारो’ ज्ञान का सार आचार है। आचार के अभाव में ज्ञान अधूरा है। जैसा कि कहा भी गया है—ज्ञान के बिना आचरण पंगु है और आचरण के बिना ज्ञान अंधा है। व्यक्ति चाहे कितना ही ज्ञानी क्यों न हो किन्तु जब तक वह ज्ञान आचरण में नहीं उतरता तब तक ज्ञान की उज्वलता प्रकट नहीं हो सकती। इसलिए जैन शास्त्रों का यह उद्घोष है—ज्ञान का सार आचार है।

भगवान महावीर ने कोरा दर्शन नहीं दिया अपितु जीवन में आचरित दर्शन प्रदान किया। उन्होंने कहा जहां ज्ञान, ज्ञान के लिए और क्रिया, क्रिया के लिए होती है उसके पीछे कोई लक्ष्य नहीं होता तो वह ज्ञान और वह क्रिया व्यर्थ सिद्ध होती है। हमारा ज्ञान और आचरण किसी लक्ष्यपूर्ति के लिए होना चाहिए और वह लक्ष्य है—दुःखों से मुक्ति, बंधन से मुक्ति और संसार से मुक्ति। इस प्रकार जैन आचार-मीमांसा की पृष्ठभूमि में है—ज्ञान। आचार के लिए ज्ञान की प्रथम आवश्यकता है, किन्तु ज्ञान के बाद आचरण करना आवश्यक है।

9.6 जैन आचार का आधार

कोई भी क्रिया की जाती है तो एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यह क्रिया क्यों की जा रही है? इसका हेतु क्या है? आधार क्या है? आधार का निश्चय हुए बिना कोई भी आचार-संहिता नहीं बन सकती। जैन आचार के आधारभूत तत्त्व ये चार वाद हैं—1. आत्मवाद, 2. लोकवाद, 3. कर्मवाद, 4. क्रियावाद।

1. **आत्मवाद**—जैन दर्शन की आचार-मीमांसा का प्रथम आधार है—आत्मा। आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व है। उसका अस्तित्व अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं होता वह जैन आचार को भी समझ नहीं सकता। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा एक अमूर्त तत्त्व है। हर व्यक्ति उसे देख नहीं पाता। इसीलिए बहुत सारे व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन हूँ, इस जन्म से पूर्व मैं कहाँ था और यहाँ से मरकर मैं कहाँ जाऊँगा? अनात्मवादियों के अनुसार हमारा अस्तित्व वर्तमान तक ही सीमित है। अतः उनका आचार केवल वर्तमानिक होता है। वर्तमान जीवन, सामाजिक जीवन, सुख-सुविधा से चल सके, उसी को लक्ष्य में रखकर उनकी आचार-संहिता का निर्माण होता है। जहां आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व मान्य होता है, वहां आचार की शुद्धि पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिए उन्नत आचार का पालन किया जाता है, अतः आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की स्वीकृति उन्नत आचार की पृष्ठभूमि है, आधारशिला है।

2. **लोकवाद**—जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह आत्मा और पुद्गल इन दो तत्त्वों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। लोक का अर्थ है—पुद्गल। लोक्यते इति लोकः के अनुसार जो दिखाई देता है, वह लोक है। पुद्गल दिखाई देता है इसलिए उसे लोक कहा गया है। जो आत्मा को जान लेता है वह लोक (पुद्गल) को जान लेता है। निष्कर्ष की भाषा

में आत्मा और पुद्गल—दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। यदि केवल आत्मा होती तो उसके संसार-परिभ्रमण का कोई कारण नहीं रहता और केवल पुद्गल होता तो भी परिभ्रमण का कोई कारण नहीं रहता, अतः दोनों का अस्तित्व है।

3. कर्मवाद—जैनदर्शन की आचार-मीमांसा का तीसरा आधार है—कर्मवाद। संसारी अवस्था में आत्मा कर्म से बद्ध है। इसी कर्म के कारण अनादि काल से बार-बार उसका संसार में परिभ्रमण हो रहा है, जन्म-मरण हो रहा है। जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होने के लिए कर्म से मुक्त होना आवश्यक है।

4. क्रियावाद—आत्मा और कर्म का संबंध क्रिया (आश्रव) के द्वारा होता है। जब तक आत्मा में राग-द्वेषजनित प्रकम्पन विद्यमान हैं, तब तक उसका कर्म-परमाणुओं के साथ संबंध होता रहता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार ये चारों वाद सम्पूर्ण जैन आचारशास्त्र के आधार हैं। संसारी अवस्था में आत्मा और कर्म का संबंध रहता है। संबंध का कारण है—क्रिया। अक्रिय अवस्था में कोई संबंध स्थापित नहीं होता। जैसे-जैसे कषाय क्षीण होता है, अक्रिया की स्थिति आने लगती है, आत्मा और कर्म का संबंध क्षीण होने लगता है। पूर्ण अक्रिया की स्थिति आने पर सारे संबंध नष्ट हो जाते हैं। आचारशास्त्र के निरूपण और पालन के पीछे मूल उद्देश्य कर्म-बंधन से मुक्त हो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है।

9.7 जैन आचार-शास्त्र की विशेषताएँ

जैन आचार-शास्त्र के पुरस्कर्ता तीर्थंकर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। उन्होंने जिस आचार का प्रतिपादन किया, वह जितना पारमार्थिक था, उतना ही व्यावहारिक भी था। उनके आचारशास्त्र की निम्न विशेषताएँ जानने और आचरण करने योग्य हैं—

1. आचार-साधना की क्रमिकता—जैन आचार साधना की पहली विशेषता यह है कि इसमें साधना की क्रमिक अवस्थाओं का प्रतिपादन है। साधना करने वाले हर साधक का शरीरबल, मनोबल, आत्मबल, श्रद्धाबल समान नहीं होता। हर साधक प्रारम्भ में ही साधना के शिखर पर नहीं पहुँच सकता। इसलिए भगवान महावीर ने दो प्रकार के आचार का प्रतिपादन किया—श्रावकाचार और श्रमणाचार। साधक अणुव्रतों के आचरण से अपनी साधना प्रारम्भ करे और धीरे-धीरे महाव्रतों की साधना के लिए प्रस्थान करे। साधुता की उत्कृष्ट भूमिका पर पहुँचकर वीतराग, केवलज्ञानी बने और अन्त में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करें। इस प्रकार जैन दर्शन में चौदह गुणस्थान के रूप में साधना की क्रमिक भूमिकाओं का प्रतिपादन हुआ है, जिसकी क्रमशः साधना करते हुए साधक साधना के शिखर पर पहुँच सकता है।

2. निश्चय और व्यवहार का समन्वय—जैन आचार साधना की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें निश्चय और व्यवहार का समन्वय है। इसमें साधना का जो स्वरूप बताया गया है, उस साधना के पीछे एकमात्र उद्देश्य है—कर्ममुक्ति, कषायमुक्ति। निश्चय नय की दृष्टि से कर्ममुक्ति और कषायमुक्ति ही जैन आचार-साधना का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्रत, नियम, संयम आदि की जो भी साधना की जाती है, उसका प्रभाव व्यवहार जगत में भी पड़ता है। अहिंसा, सत्य आदि व्रतों की साधना करने वाला तथा संयमपूर्वक अपना जीवन यापन करने वाला साधक न केवल अपनी आत्मा का उत्थान करता है अपितु समाज में भी आदर्श माना जाता है।

3. आत्मौपम्य की भावना—जैन आचारशास्त्र की तीसरी विरल विशेषता है—आत्मौपम्य-दृष्टि। संसार के हर प्राणी को अपनी आत्मा के तुल्य समझो। जिस प्रकार हमें दुःख, कष्ट पसन्द नहीं है, हमें कोई दुःख, कष्ट देता है तो अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के हर प्राणी को दुःख और कष्ट पसन्द नहीं है, उन्हें कोई दुःख और कष्ट देता है तो उन्हें भी अच्छा नहीं लगता। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया 'अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए' पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—इन सभी जीवों को अपने समान समझो। जिस साधक में यह आत्मौपम्य दृष्टि विकसित हो जाती है, वह अपने या दूसरों के स्वार्थ के लिए किसी को पीड़ा नहीं देता।

4. समभाव—जैन आचार शास्त्र की चौथी सर्वोत्कृष्ट विशेषता है—समभाव, समता की साधना। कर्मों के उदय से साधक के जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती रहती हैं। कभी लाभ होता है कभी अलाभ, कभी सुख होता

है कभी दुःख, कभी सम्मान होता है कभी अपमान, किन्तु साधक इन सभी परिस्थितियों में समभाव रखता है, अपना संतुलन नहीं खोता। समभाव की साधना से कर्मों की निर्जरा होती है, नए कर्मों का बंधन नहीं होता।

5. युग की समस्याओं का समाधान—जैन आचारशास्त्र में कुछ ऐसे शाश्वत मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है, जो सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। साथ ही युग की समस्याओं का समाधान देने वाले हैं। वर्तमान युग की तीन बड़ी समस्याएँ मानी जाती हैं—हिंसा, अभाव और आग्रह। इन तीनों ही समस्याओं का समाधान जैन दर्शन के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त में खोजा जा सकता है।

❖ **हिंसा का समाधान अहिंसा**—आज के युग की एक बड़ी समस्या है—हिंसा। व्यक्ति अपने थोड़े से सुख के लिए दूसरों की हिंसा करता है, शोषण और अन्यायपूर्ण व्यवहार करता है। परिणामस्वरूप स्वयं कर्मों का बंधन करता है और समाज को भी रुग्ण बनाता है। अहिंसा के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। अहिंसा के सूक्ष्म सिद्धान्त को समझने वाला तथा अहिंसक जीवन जीने वाला न केवल स्वयं कर्मबंधन से बचता है अपितु स्वस्थ समाज का भी निर्माण करता है।

❖ **अभाव का समाधान अपरिग्रह**—आज के युग की एक बड़ी समस्या है—अभाव। इस देश में आधे से ज्यादा लोग अभाव का जीवन जी रहे हैं। उनके पास खाने के लिए पूरी रोटी नहीं है, पहनने के लिए पूरे वस्त्र नहीं हैं और रहने के लिए मकान नहीं हैं। रोटी, कपड़ा और मकान का अभाव उन्हें हिंसा, अत्याचार, भ्रष्टाचार करने के लिए मजबूर करता है। महात्मा गांधी ने कहा था—पृथ्वी पर इतनी साधन सामग्री है कि वह प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता को पूरा कर सकती है, किन्तु उसके पास इतनी साधन-सामग्री नहीं है कि वह एक भी व्यक्ति की इच्छाओं को पूरा कर सके, क्योंकि इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। वे कभी पूरी नहीं होती। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी इच्छा पैदा होती रहती है। इच्छाओं पर नियन्त्रण करने के लिए इच्छापरिमाणव्रत-अपरिग्रह व्रत की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। इच्छाओं का निग्रह होते ही, आवश्यकताओं का अल्पीकरण स्वयं होने लगता है, जिससे अभाव की समस्या से छुटकारा पाया जा सकता है।

❖ **आग्रह का समाधान अनेकान्त**—आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है—आग्रह की वृत्ति। हर व्यक्ति अपने आपको, अपने विचारों और दृष्टिकोण को सत्य मानने का आग्रह करता है तथा दूसरों के विचारों और दृष्टिकोण को सत्य नहीं मानता। इस आग्रह के कारण ही कलह, असामंजस्य एवं निरपेक्ष भावना का विकास होता है। इस आग्रह की समस्या का समाधान जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त में खोजा जा सकता है। अनेकान्त का तात्पर्य है वस्तु अनन्त धर्मात्मक (स्वभाव वाली) है। अतः उसके एक धर्म को जानकर उसे ही सम्पूर्ण सत्य मानने का आग्रह मत करो। वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है, सत्यांश है। दूसरों के विचार और दृष्टिकोण में भी सत्य को खोजने का प्रयास करो। इससे आग्रह की समस्या को समाधान मिलता है। सत्य को जानने का अवसर प्राप्त होता है।

9.8 सारांश

इस प्रकार जैन आचार की साधना जहां मोक्ष-प्राप्ति का साधन है, वहीं आज की समस्याओं का समाधान देने वाली भी है। जैन दर्शन में ज्ञान से भी अधिक आचार को महत्त्व दिया गया है। ज्ञान का सार आचार को ही बताया गया है। आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद जैन आचार का आधार है।

9.9 बोध प्रश्न

1. जैन आचार के आधारभूत तत्त्व क्या हैं?
2. आचार की पृष्ठभूमि क्या है?
3. हिंसा और अभाव की समस्या का समाधान क्या है?

संरचना

- 10.1 नव तत्त्व
- 10.2 तत्त्व क्या है?
- 10.3 तत्त्वों की संख्या
- 10.4 नव तत्त्व
- 10.5 नव तत्त्व : हेय, ज्ञेय, उपादेय
- 10.6 जीव
- 10.7 अजीव
- 10.8 बंध
- 10.9 पुण्य
- 10.10 पाप
- 10.11 आश्रव
- 10.12 संवर
- 10.13 निर्जरा
- 10.14 मोक्ष
- 10.15 सारांश
- 10.16 बोध-प्रश्न

10.1 नव तत्त्व

‘तत्त्व’ तत् शब्द से बना है। संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम है। सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। तत् शब्द से भव अर्थ में ‘त्व’ प्रत्यय लगाकर ‘तत्त्व’ शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—उसका भाव अर्थात् ‘तस्य भावः तत्त्वम्’। वस्तु के भाव या स्वभाव को तत्त्व कहते हैं, जैसे—स्वर्ण का स्वर्णत्व, अग्नि का अग्नित्व, जीव का जीवत्व स्वभाव है।

10.2 तत्त्व क्या है?

जैन दर्शन के अनुसार तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा करना सम्यग् दर्शन है तथा तत्त्वों की सही-सही जानकारी होना सम्यक् ज्ञान है। तो सहज ही जिज्ञासा होती है कि तत्त्व क्या है? तत्त्व के लिए सत्, सत्व, अर्थ, पदार्थ, द्रव्य आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। तत्त्व शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से दो अर्थों में हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, सत् द्रव्य लक्षणम्’। तत्त्व का पहला अर्थ है जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त होता है वह सत् कहलाता है तथा जो सत् है वही द्रव्य तत्त्व है। तत्त्व का दूसरा अर्थ किया गया—‘तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु’ अर्थात् जो परमार्थ (मोक्ष) प्राप्ति में साधक या बाधक बनता है, वह पारमार्थिक पदार्थ तत्त्व है।

10.3 तत्त्वों की संख्या

तत्त्व कितने हैं? इसके विषय में तीन दृष्टियां हैं। पहली दृष्टि के अनुसार तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। दूसरी दृष्टि के अनुसार तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। तीसरी दृष्टि के अनुसार तत्त्व नौ

हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। दार्शनिक ग्रंथों में प्रथम और द्वितीय दृष्टि प्राप्त है। आगम साहित्य में तृतीय दृष्टि उपलब्ध है। आचार्य उमास्वाति ने पुण्य और पाप को बंध के अन्तर्गत समाहित कर तत्त्व सात ही माने हैं।

10.4 नव तत्त्व

मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेय पदार्थों को तत्त्व कहा जाता है। वे संख्या में नौ हैं—

1. **जीव**—जिसमें चेतना हो, वह जीव है।
2. **अजीव**—जिसमें चेतना न हो, वह अजीव है।
3. **पुण्य**—शुभ रूप से उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल पुण्य हैं।
4. **पाप**—अशुभ रूप से उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल पाप हैं।
5. **आश्रव**—कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने वाली आत्मप्रवृत्ति आश्रव है।
6. **संवर**—आश्रव का निरोध करने वाली आत्मपरिणति संवर है।
7. **निर्जरा**—तपस्या आदि के द्वारा कर्म-विलय होने से आत्मा की जो आंशिक उज्वलता होती है, वह निर्जरा है।
8. **बंध**—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-पुद्गलों का नाम बंध है।
9. **मोक्ष**—समस्त कर्मों से मुक्त हो आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना मोक्ष है।

10.5 नव तत्त्व हेय, ज्ञेय, उपादेय के रूप में

नव तत्त्वों को हेय, ज्ञेय और उपादेय—इन तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। हेय से तात्पर्य है—छोड़ने योग्य। ज्ञेय से तात्पर्य है—जानने योग्य और उपादेय से तात्पर्य है—ग्रहण करने योग्य। नव तत्त्वों में जीव, पुण्य, पाप, बंध और आश्रव तत्त्व हेय हैं क्योंकि ये कर्म-बंधन के कारण हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय हैं, क्योंकि ये कर्ममुक्ति के उपाय हैं। ज्ञेय नव ही तत्त्व हैं क्योंकि नवों तत्त्वों को जाने बिना हेय और उपादेय का विवेक भी नहीं किया जा सकता।

ज्ञेय तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बंध, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

हेय तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बंध और आश्रव।

उपादेय तत्त्व—संवर, निर्जरा और मोक्ष।

नौ तत्त्वों में पहला तत्त्व है जीव और अन्तिम तत्त्व है—मोक्ष। दोनों ही जीव हैं। पहला बद्धजीव है और दूसरा मुक्तजीव है। बंधन से मोक्ष तक पहुंचने के लिए नौ तत्त्वों को विस्तार से जानना आवश्यक है। जिस प्रकार जब कोई रोगी किसी प्रसिद्ध डॉक्टर के पास जाता है तो डॉक्टर सर्वप्रथम यह जानने का प्रयास करता है कि उसका रोग क्या है? रोग का निदान करने के बाद वह रोग के कारणों की खोज करता है? कारण की खोज करने के बाद रोग को दूर करने के उपायों की खोज करता है। रोग अधिक न बढ़े अतः सबसे पहले वह उसे तत्काल रोकने का प्रयास करता है। इसके पश्चात् उस स्थिति का भी आकलन करता है कि रोगमुक्ति के पश्चात् पूर्ण स्वस्थता का स्वरूप क्या होगा? रोग, रोग के कारण, रोगमुक्ति के उपाय तथा रोगमुक्त अवस्था इन चारों तथ्यों को अच्छी तरह से जानकर ही डॉक्टर रोगी के रोग का इलाज करता है। उसी प्रकार दुःखों से या कर्म-बंधन से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले साधक को भी चार तत्त्वों को जानना आवश्यक है। पहला तत्त्व है—दुःख को जानना। दूसरा तत्त्व है—दुःख के कारणों को जानना। तीसरा तत्त्व है—दुःख से मुक्त होने के उपायों को जानना और चौथा तत्त्व है—दुःखमुक्त अवस्था का अनुभव करना। कर्मबंधन दुःख है। वह बंधन पुण्य (शुभ कर्मबंधन) और पाप (अशुभ कर्मबंधन) के भेद से दो प्रकार का है। दुःख या कर्मबंधन का कारण है—आश्रव। दुःख मुक्ति या कर्ममुक्ति का उपाय है—संवर और निर्जरा। दुःखमुक्त या कर्ममुक्त अवस्था है—मोक्ष। इस प्रकार कर्ममुक्ति या दुःखमुक्ति के लिए नव तत्त्वों को जानना आवश्यक है।

10.6 जीव तत्त्व

नौ तत्त्वों में पहला तत्त्व है—जीव। जैन आगमों में जीव के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है; यथा—जीव, प्राणी, आत्मा, प्राण, भूत, सत्त्व, स्वयंभू, कर्ता आदि। जिसमें चेतना तथा सुख-दुःख का संवेदन होता है, उसे जीव कहा जाता है। 'उपयोग लक्षणो जीवः' इस परिभाषा के अनुसार उपयोग जीव का लक्षण है। उपयोग से तात्पर्य है—चेतना का व्यापार। चेतना के दो रूप हैं—ज्ञान और दर्शन। इनके व्यापार (प्रवृत्ति) को उपयोग कहते हैं।

जीव तत्त्व के मुख्यतः दो भेद किये गए हैं—संसारी और मुक्त। इस भेद का आधार कर्मबंधन है। जो जीव कर्म से बंधे हुए हैं, वे संसारी कहलाते हैं। जो कर्मों से सर्वथा मुक्त हो गए हैं, वे मुक्तजीव हैं। नव तत्त्वों में विवेचित प्रथम 'जीव तत्त्व' संसारी जीव और नवां 'मोक्ष तत्त्व' मुक्तजीव है। कर्मबंधन के कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। संसार में परिभ्रमण करने वाले संसारी जीव भी पुनः दो भागों में विभक्त हैं—त्रस और स्थावर। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये एकेन्द्रिय जीव स्थावर जीव हैं। ये अपने सुख के लिए प्रवृत्ति और दुःख से निवृत्त होने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति नहीं कर सकते। एक ही स्थान पर स्थिर रहने के कारण इन्हें स्थावर जीव कहते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय से ये जीव स्थावर बनते हैं। मनुष्य, देव, नारक, तथा दो इन्द्रियों से लेकर पांच इन्द्रियों तक के तिर्यच जीव त्रस कहलाते हैं। ये अपने सुख-दुःख की प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति कर सकते हैं। त्रस नामकर्म के उदय से ये जीव त्रस बनते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि-निधन है। न इनकी आदि है और न ही इनका अन्त है। ये अक्षय और अविनाशी हैं। आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति सम्पन्न है। द्रव्य दृष्टि से इसका स्वरूप तीनों कालों में एक जैसा रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः द्रव्य दृष्टि से आत्मा नित्य है। पर्याय दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है अतः पर्याय दृष्टि से वह अनित्य भी है। संसारी अवस्था में आत्मा और शरीर का संबंध दूध में मिले पानी, तिल में स्थित तेल की भांति एक प्रतीत होता है किन्तु जिस प्रकार दूध से पानी, तिल से तेल अलग है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से अलग है। कर्मों के कारण अनादि काल से आत्मा और शरीर का संबंध बना हुआ है। प्रयत्न विशेष से जिस प्रकार दूध और पानी को, तिल और तेल को अलग-अलग किया जा सकता है उसी प्रकार संवर और निर्जरा के द्वारा अनादि काल से स्थापित आत्मा और शरीर के संबंध को तोड़ा जा सकता है। समस्त कर्मों से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

10.7 अजीव तत्त्व

अजीव तत्त्व जीव का प्रतिपक्षी है। जहां जीव तत्त्व सचेतन होता है वहां अजीव तत्त्व अचेतन होता है। अजीव तत्त्व के दो भेद हैं—अरूपी और रूपी। जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त होता है वह रूपी कहलाता है और जो इनसे रहित होता है वह अरूपी कहलाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये चार अरूपी अजीव तत्त्व हैं तथा एक पुद्गल रूपी अजीव तत्त्व है।

जैन दर्शन के अनुसार लोक अथवा सृष्टि की अवधारणा को समझने के लिए धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों को विस्तार से समझना आवश्यक होता है। किन्तु आत्मा को संसारी अवस्था से मुक्त करने के लिए केवल पुद्गल द्रव्य को समझना आवश्यक होता है। क्योंकि कर्मण वर्गणा के पुद्गल ही कर्म रूप में परिणत होकर आत्मा के साथ चिपक जाते हैं तथा उसे संसार में परिभ्रमण करवाते हैं। ये कर्म-पुद्गल ही शुभरूप से उदय में आने पर पुण्य और अशुभरूप से उदय में आने पर पाप कहलाते हैं। जब तक ये कर्म-पुद्गल अपना फल नहीं देते, आत्मा के साथ चिपके रहते हैं, तब तक बंध कहलाते हैं। जब तक जीव का इस अजीव तत्त्व के साथ संबंध रहेगा तब तक जीव संसार से मुक्त नहीं हो सकता। अतः संसार से, कर्मों से अथवा दुःखों से मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति के लिए ये आवश्यक है कि वह दुःख, दुःख के कारण और दुःख मुक्ति के उपायों को जानें। जानने के बाद दुःख के कारणों को छोड़ें तथा दुःखमुक्ति के उपायों को ग्रहण कर उसका आचरण करें, जिससे कि वह दुःखमुक्त अवस्था मोक्ष को प्राप्त कर सके।

10.8 बंध तत्त्व

दो पदार्थों के विशिष्ट संबंध को बंध कहते हैं। बंध का शाब्दिक अर्थ है—जुड़ना। जीव और कर्मपुद्गल के संबंध को बंध कहते हैं। बंध के दो प्रकार हैं—द्रव्यबन्ध और भावबंध। कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ संबंध होना द्रव्यबंध है तथा जिन राग-द्वेषमय भावों के कारण कर्मबंध होता है वे राग-द्वेषमय भाव भावबंध हैं।

जीव और कर्म परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पदार्थ हैं, किन्तु बंध अवस्था में ये दूध में घी की भांति एकमेक हो जाते हैं। अनादि काल से आत्मा और कर्म का संबंध चला आ रहा है। इसी संबंध के कारण वह संसार में अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है। यह बंधन ही दुःख है।

10.9 पुण्य तत्त्व

कर्म बंधन दो प्रकार का होता है—शुभ बंधन और अशुभ बंधन। जब शुभ कर्मों का उदय होता है तो उन्हें पुण्य कहा जाता है और जब अशुभ कर्मों का उदय होता है तो उन्हें पाप कहा जाता है। कारण में कार्य का उपचार होने से जिन-जिन कारणों से शुभ कर्म का बंधन होता है, उन कारणों को भी पुण्य कह दिया जाता है।

पुण्य के प्रकार

पुण्य का बंधन नौ कारणों से होता है अतः पुण्य के नौ प्रकार हैं—

1. अन्न पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले अन्न दान के निमित्त से होने वाला शुभकर्म अन्न पुण्य है।
2. पान पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पानक-जल आदि के निमित्त से होने वाला शुभकर्म पान पुण्य है।
3. लयन पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले मकान के निमित्त से होने वाला शुभकर्म लयन पुण्य है।
4. शयन पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पाट-बाजोट आदि के निमित्त से होने वाला शुभकर्म शयन पुण्य है।
5. वस्त्र पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले वस्त्र के निमित्त से होने वाला शुभकर्म वस्त्र पुण्य है।
6. मन पुण्य—मन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभकर्म मन पुण्य है।
7. वचन पुण्य—वचन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभकर्म वचन पुण्य है।
8. काय पुण्य—शरीर की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभकर्म काय पुण्य है।
9. नमस्कार पुण्य—पंच परमेष्ठी को किए जाने वाले नमस्कार के निमित्त से होने वाला शुभकर्म नमस्कार पुण्य है।

10.10 पाप तत्त्व

पुण्य का प्रतिपक्षी तत्त्व पाप है। अशुभ रूप में बंधे हुए कर्म जब उदय में आते हैं तो उन्हें पाप कहा जाता है। कारण में कार्य का उपचार होने से जिन-जिन कारणों से अशुभ कर्म का बंधन होता है, उन कारणों को भी पाप कह दिया जाता है।

पाप के प्रकार

पाप के अठारह प्रकार हैं—

1. प्राणातिपात पाप—प्राण-वध मूलक अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
2. मृषावाद—असत्य-वचन रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
3. अदत्तादान—अदत्त वस्तु के ग्रहण रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
4. मैथुन—अब्रह्मचर्य के सेवन से बंधने वाला पापकर्म।
5. परिग्रह—वस्तु-संग्रह या ममत्व रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।

6. क्रोध—उत्तेजना से बंधने वाला पापकर्म।
7. मान—अभिमान से बंधने वाला पापकर्म।
8. माया—धोखाधड़ी, वंचना आदि करने से बंधने वाला पापकर्म।
9. लोभ—लालसा से बंधने वाला पापकर्म।
10. राग—रागात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
11. द्वेष—द्वेषात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
12. कलह—झगड़ालू वृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
13. अभ्याख्यान—मिथ्या दोषारोपण करने वाली प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
14. पैशुन्य—चुगली करने की प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
15. परपरिवाद—पर-निन्दामूलक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
16. रति-अरति—असंयम में रुचि और संयम में अरुचि के निमित्त से बंधने वाला पापकर्म।
17. माया-मृषा—छलनापूर्वक असत्य-संभाषण की प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
18. मिथ्यादर्शनशाल्य—विपरीत श्रद्धा से बंधने वाला पापकर्म।

10.11 आश्रव तत्त्व

आत्मा और कर्म का संबंध अनादि-कालीन है। संबंध का मूल कारण आश्रव है। आश्रव के द्वारा कर्मों का आकर्षण होता है और कर्मों के कारण आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही है। संसार से मुक्ति चाहने वाले साधक के लिए कर्मबंधन के कारण आश्रव को जानना और फिर इसे छोड़ना आवश्यक है।

कर्माकर्षणहेतुरात्मपरिणाम आश्रवः जिस परिणाम से आत्मा में कर्मों का आश्रवण-प्रवेश होता है, उसे आश्रव कहा जाता है। जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका के समुद्र में स्थित होने पर उन छिद्रों से नौका में जल भरता रहता है और वह नौका समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अव्रत आदि आश्रव छिद्रों द्वारा आत्मरूपी नाव में कर्मरूपी पानी का प्रवेश होता रहता है और वह कर्मयुक्त आत्मा संसार में परिभ्रमण करती रहती है।

आश्रव के प्रकार

आश्रव के पांच प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांचों कर्म आने के द्वार हैं। जिस प्रकार दरवाजा खुला होने पर कोई भी अन्दर प्रवेश कर सकता है, अच्छे व्यक्ति भी प्रवेश कर सकते हैं, बुरे व्यक्ति भी प्रवेश कर सकते हैं। उसी प्रकार आश्रव द्वार से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म प्रवेश कर सकते हैं। ये पांचों कर्म बंधन के कारण होने से साधना में बाधक तत्त्व हैं।

आश्रव कर्म बंधन का कारण है और कर्म ही दुःख, संसार और भवभ्रमण का मूल कारण है। कर्म बंधन के कारण आश्रव को जानकर इन्हें छोड़ने का प्रयास करना चाहिए। इन पांच आश्रव-द्वारों को बंद करना चाहिए। कर्म-बंधन (दुःख) से मुक्त होने का उपाय है—संवर और निर्जरा। इसलिए कहा गया—

आश्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्। इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्।।

आश्रव संसार में परिभ्रमण का हेतु है और संवर मोक्ष का हेतु है। यह आर्हत् मत ही जिनशासन की दृष्टि है, शेष सब इसका ही विस्तार है।

10.12 संवर

‘आश्रवनिरोधः संवरः’ आश्रव का निरोध संवर है। आश्रव कर्म आने का द्वार है और उस द्वार को बंद कर देना संवर है। संवर आश्रव का विरोधी तत्त्व है। वह आते हुए कर्मों को रोकता है। जिस प्रकार मकान के दरवाजे, खिड़कियां

खुली होती हैं तो मकान में हवा के साथ-साथ धूल आदि कचरा भी प्रवेश कर जाता है किन्तु दरवाजे, खिड़कियों को बंद कर देने पर धूल आदि कचरा भीतर प्रवेश नहीं करता। उसी प्रकार जो साधक कर्म-बंधन से मुक्ति चाहता है, वह पहले संवर की साधना करे। कर्मबंधन के कारण आश्रव का निरोध करे। संवर के द्वारा कर्म-आगमन के द्वार को बंद करे। संवर की साधना से पूर्व निर्जरा का कोई औचित्य नहीं रहता। यदि कोई व्यक्ति मकान के दरवाजे और खिड़कियों को बन्द नहीं करे और झाड़ू लेकर मकान की सफाई करता रहे तो उस सफाई का कोई औचित्य नहीं रहता क्योंकि खुली खिड़कियों से कचरा निरन्तर भीतर प्रवेश कर रहा है। मकान में स्थित कचरे की सफाई करने से पूर्व आवश्यक है खिड़कियों को बंद करे ताकि नया कचरा भीतर प्रवेश नहीं करे और खिड़कियों को बंद करने के बाद सफाई की प्रक्रिया शुरू करे। उसी प्रकार कर्मों और दुःखों से मुक्ति चाहने वाले साधक के लिए आवश्यक है कि वह पहले संवर के द्वारा कर्म आने के द्वार आश्रव का निरोध करे ताकि नये कर्म भीतर प्रवेश न कर सकें। संवर के बाद निर्जरा के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों की सफाई करे ताकि आत्मा कर्म-मलरहित हो शुद्ध और स्वच्छ बन सके।

संवर के प्रकार

जिस प्रकार आंधी आने पर पहले दरवाजे बंद कर दिये जाते हैं और फिर कचरे की सफाई की जाती है। उसी प्रकार आत्मशोधन के लिए आश्रवरूपी द्वार को बंद किया जाता है। आश्रव द्वार पांच हैं—मिथ्यात्व, अत्रत, प्रमाद, कषाय और योग। संवर के पांच प्रकार हैं—जो इन पांच द्वारों का क्रमशः निरोध करते हैं। वे हैं—1. सम्यक्त्व संवर, 2. व्रत संवर, 3. अप्रमाद संवर, 4. अकषाय संवर, 5. अयोग संवर।

10.13 निर्जरा

संवर के द्वारा कर्मों का आश्रव (आगमन) रुक जाता है अर्थात् नये कर्मों का बंधन नहीं होता है, किन्तु पूर्व संचित कर्मों की सत्ता बनी रहती है। पूर्व संचित कर्मों का क्षय तपस्या के द्वारा होता है। तपस्या के द्वारा कर्मों का क्षय होने पर आत्मा की जो उज्वलता होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तपस्या निर्जरा का कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। कर्म का पूर्ण विलय मोक्ष है तथा आंशिक विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा भेद है, स्वरूप भेद नहीं। जैसे जल की एक बूंद समुद्र का ही अंश है, वैसे ही निर्जरा भी मोक्ष का अंश है। अंतर इतना ही है कि मोक्ष में कर्म का सम्पूर्ण विलय होता है और निर्जरा में कर्म का विलय आंशिक होता है।

निर्जरा के भेद

स्थानांग सूत्र में 'एगा णिज्जरा' निर्जरा एक है, ऐसा सामान्य की अपेक्षा कथन किया गया है, किन्तु जैसे एक ही स्वरूप वाली अग्नि काष्ठ, पाषाण, गोमय, तृणादि रूप कारणों के भेद से अनेक प्रकार की कही जाती है, वैसे ही तपस्या के बारह भेद होने से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही गई है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से वह एक ही प्रकार की है। तप के बारह प्रकार को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है—1. बाह्य तप, 2. आभ्यन्तर तप।

❖ बाह्य तप

बाह्य तप वह है, जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता है तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा सहित होने से दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें मुख्यतः देह से संबंधित विकार दूर होते हैं। बाह्य तप के छः प्रकार हैं—1. अनशन, 2. ऊनोदरी, 3. भिक्षाचरी, 4. रसपरित्याग, 5. कायक्लेश, 6. प्रतिसंलीनता।

❖ आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप वह है, जिसमें मानसिक वृत्तियों की प्रधानता रहती है तथा इसमें प्रायः बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रहती। इसमें अन्तःकरण में स्थित कामनाएँ, वासनाएँ, विकार आदि दूर होते हैं। आभ्यन्तर तप के भी छः प्रकार हैं—1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. ध्यान और 6. व्युत्सर्ग।

1. अनशन

अशन का अर्थ है—आहार। आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है। कर्मों का क्षय करने के लिए सोद्देश्य आहार का त्याग करना अनशन है। आहार के अभाव में भूखा रहना अनशन नहीं है। अनशन दो प्रकार का होता है—
1. इत्वरिक अनशन और 2. यावत्कथिक अनशन।

इत्वरिक अनशन—इत्वरिक अनशन एक निश्चित काल के लिए होता है। वह कम से कम एक दिन-रात्रि का भी हो सकता है और उत्कृष्ट छः महीने का भी हो सकता है।

यावत्कथिक—जीवन भर के लिए आहार का त्याग करना यावत्कथिक अनशन है। इसे संथारा भी कहा जाता है।

2. ऊनोदरी

हर व्यक्ति अनशन-उपवास नहीं कर सकता। जो उपवास आदि नहीं कर सकता वह अपने कर्मों की निर्जरा कैसे करे? उसके लिए तप का दूसरा प्रकार ऊनोदरी बताया गया। ऊन का अर्थ है—कम और उदर का अर्थ है—पेट। पेट में जितनी भूख है, उससे कम खाना ऊनोदरी है। उपवास को छोड़कर नवकारसी, प्रहर, एकासन आदि का समावेश भी ऊनोदरी में ही हो जाता है। ऊनोदरी के दो भेद हैं—द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी।

(1) **द्रव्य ऊनोदरी**—भोजन, वस्त्र, पात्र आदि जितने भी उपकरण काम में लिए जाते हैं, उनमें कमी करना द्रव्य ऊनोदरी है। जैसे—प्रतिदिन दो रोटी खाते हैं तो उसमें से जितना संभव हो सके कम खाना। जितने वस्त्र, पात्र आदि काम में लेते हैं, उनसे कम का उपयोग करना द्रव्य ऊनोदरी है।

(2) **भाव ऊनोदरी**—कषाय को कम करना भाव ऊनोदरी है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को कम करना भाव ऊनोदरी है। जैसे प्रतिदिन दस बार क्रोध करते हैं तो यह संकल्प करना आज पांच या तीन बार से ज्यादा क्रोध नहीं करूंगा।

3. भिक्षाचरी

बाह्य तप का तीसरा भेद है—भिक्षाचरी। भिक्षाचरी का तात्पर्य है विविध प्रकार के अभिग्रह—संकल्प करके आहार की गवेषणा करना। जैसे भिक्षा के लिए जाते समय यह संकल्प करना कि आज भिक्षा में यदि अमुक पदार्थ उपलब्ध हुआ, तभी भिक्षा लूंगा अन्यथा भिक्षा ग्रहण नहीं करूंगा। जिस प्रकार भिक्षा के लिए जाते समय भगवान महावीर ने तेरह अभिग्रह-संकल्प किए। जब तक वे तेरह संकल्प एक साथ पूरे नहीं हुए तब तक उन्होंने भिक्षा ग्रहण नहीं की। भिक्षाचरी का दूसरा नाम वृत्तिसंख्यान तप भी है।

4. रस-परित्याग

आहार का त्याग करना ही तप नहीं अपितु खाते-पीते भी तप किया जा सकता है। रस का अर्थ है—प्रीति बढ़ाने वाला। 'रसं प्रीतिविवर्धनम्' जिससे भोजन में प्रीति उत्पन्न हो उसे रस कहते हैं। खाद्य पदार्थों में रसीले, पौष्टिक एवं चटपटे पदार्थों का त्याग करना रसपरित्याग है। इसमें मुख्य रूप से दूध, दही, घी, तेल, शक्कर, कढ़ाई विगय-मिठाई, नमकीन आदि इन छः विगय का त्याग किया जाता है क्योंकि घी, दूध, दही आदि पौष्टिक आहार का अधिक मात्रा में सेवन करने पर ये मन में विकार पैदा करते हैं।

5. कायक्लेश

बाह्य तप के प्रथम चार भेद आहार से संबंधित हैं और पांचवां भेद शरीर से संबंधित है। कायक्लेश का अर्थ शरीर को कष्ट देना नहीं है किन्तु भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि से उत्पन्न शारीरिक कष्ट को समभाव से सहन करना है। अनेक प्रकार के आसनों से शरीर को साधने का नाम कायक्लेश है। आसनों के अभ्यास से व्यक्ति सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को समभाव से सहन करने की क्षमता अर्जित कर लेता है।

6. प्रतिसंलीनता

इन्द्रिय, मन आदि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को वहां से हटाकर अन्तर्मुखी बनाने का नाम प्रतिसंलीनता है। प्रतिसंलीनता के चार प्रकार हैं—

(1) **इन्द्रिय प्रतिसंलीनता**—पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों का निरोध करना तथा इन्द्रियों के प्राप्त पदार्थों में राग-द्वेष न करना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है।

(2) **कषाय प्रतिसंलीनता**—क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों के उदय का निरोध करना। यदि रोकते हुए भी इनका उदय हो जाये तो क्षमा आदि आलम्बन से उसे निष्फल करना कषाय प्रतिसंलीनता है।

(3) **योग प्रतिसंलीनता**—मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उन्हें शुभ प्रवृत्ति में लगाना योग प्रतिसंलीनता है।

(4) **विविक्तशय्यासन**—स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित निर्जन, एकान्त, शान्त स्थान पर रहना विविक्त शय्यासन है।

इस प्रकार अनशन से लेकर प्रतिसंलीनता तक के बाह्य तप क्रमशः भोगों को घटाते हुए पूर्ण संयमी बनने की साधना है। संयमी साधक में ही अन्तर्मुखी होने की पात्रता तथा आभ्यन्तर तप करने की योग्यता आती है। अतः आभ्यन्तर तप के लिए बाह्य तप आवश्यक है।

7. प्रायश्चित्त

दोष की विशुद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त में दो शब्दों का योग है—प्रायः और चित्त। प्रायः का अर्थ है—पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है। इस प्रकार दोषों से मुक्त होने की, आत्मशुद्धि की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहा गया है।

8. विनय

विनय की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—‘**विनीयते अष्टप्रकारं कर्मानेनेति विनयः**’ जिससे आठ प्रकार के कर्म दूर किये जाते हैं, वह विनय है। इसका प्रवृत्तिजन्य अर्थ है—गुणीजनों और श्रेष्ठजनों के प्रति यथोचित सम्मानपूर्ण व्यवहार करना, उनको हाथ जोड़ना, उनके आने पर खड़ा होना, आसन देना आदि। इस प्रकार विनय के दो अर्थ हैं—कर्मों का अपनयन करना और गुणीजनों, बड़ों का बहुमान करना, उनकी आशातना न करना। आशातना अर्थात् असद् व्यवहार। आशातना का अभाव और बहुमान का भाव, यह विनय की परिभाषा है। इससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की विशेष निर्मलता होती है तथा मन, वचन और काया की पवित्रता सधती है।

9. वैयावृत्य

वैयावृत्य का सीधा-सा अर्थ है—सेवा करना। सहयोग की भावना से सेवा-कार्य में जुड़ना वैयावृत्य तप कहलाता है। इस तप की आराधना करने वाला आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि की अपेक्षाओं को समझकर सेवाभावना की प्रेरणा से उनका सहयोगी बनता है। पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने पर ही वैयावृत्य किया जा सकता है।

10. स्वाध्याय

सद्शास्त्रों के अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। इसका दूसरा अर्थ है—स्व का अध्ययन करना अर्थात् आत्मचिंतन-मनन करना स्वाध्याय है। यह आत्मलीनता की स्थिति में ही हो सकता है। अध्येता को आत्मा से हटाकर पदार्थ जगत् की ओर धकेलने वाला अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आ सकता। स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं—

1. **वाचना**—शास्त्रों को पढ़ना, पढ़ाना।
2. **पृच्छना**—शंका निवारण के लिए प्रश्न करना।
3. **परिवर्तना**—सीखे हुए ज्ञान का पुनरावर्तन करना।

4. अनुप्रेक्षा — अर्थ का चिन्तन करना।

5. धर्मकथा — धर्मकथा करना।

11. ध्यान

मन की एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार का होता है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्त ध्यान है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त ध्यान है। शुभ और पवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना प्रशस्त ध्यान है। अशुभ और अपवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना अप्रशस्त ध्यान है।

जिस प्रकार रुई को धुने से उसके तार-तार बिखर जाते हैं। रुई की सघनता मिट जाती है। उन तारों में बल एवं मल नहीं रहता। उसी प्रकार ध्यान साधना के द्वारा सघन कर्म खंड-खंड होकर बिखर जाते हैं। कर्मों की सघनता मिट जाती है। आत्मा निर्मल और पवित्र बनती है।

12. व्युत्सर्ग-कायोत्सर्ग

व्युत्सर्ग में दो शब्द हैं—वि और उत्सर्ग। वि का अर्थ है विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है—त्याग, छोड़ना। त्याग करने की विशिष्ट विधि व्युत्सर्ग है। यह त्याग अपने शरीर का भी हो सकता है, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का हो सकता है और भोजन-पानी का भी हो सकता है। शरीर व्युत्सर्ग का नाम कायोत्सर्ग है। जिसमें अनासक्ति और निर्लोभता होती है वही व्युत्सर्ग तप की सच्ची आराधना कर सकता है।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर तप की आराधना से कर्मों की महान निर्जरा होती है। तप निर्जरा का कारण है, इसलिए तप के बारह भेदों को ही निर्जरा के बारह भेद के रूप में गिनाया गया है। तप और निर्जरा में कारण-कार्यभाव संबंध है। तप कारण है और निर्जरा कार्य है। कारण-कार्य में अभेद मानकर तप के बारह भेदों को ही निर्जरा के बारह भेद बताये गये हैं।

10.14 मोक्ष

नव तत्त्व में अंतिम तत्त्व है—मोक्ष। इस मोक्ष तत्त्व को प्राप्त करना ही प्रत्येक प्राणी का चरम और परम लक्ष्य है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थित होना मोक्ष है। तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष को परिभाषित करते हुए कहा गया है—'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः' सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय उसी अवस्था में हो सकता है, जब नवीन कर्मों के बन्ध को सर्वथा रोक दिया जाए तथा पूर्वबद्ध कर्मों की पूरी तरह निर्जरा कर दी जाये। जब तक नवीन कर्म आते रहेंगे तब तक कर्म का सम्पूर्ण क्षय नहीं हो सकता। संवर के द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोका जाता है और निर्जरा के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय-नाश किया जाता है। इस प्रकार संवर और निर्जरा के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होता है तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति का नाम है जहां आत्मा कर्मों के मल से सर्वथा रहित अमल और धवल हो जाती है। मुक्त आत्माएँ जहां रहती हैं, उस स्थान को भी उपचार से मोक्ष कहा जाता है। किन्तु वह मोक्ष तत्त्व नहीं है। मोक्ष तत्त्व से सिर्फ मुक्त-आत्माओं का ही ग्रहण होता है।

10.15 सारांश

इस प्रकार समस्त दुःखों से छुटकारा चाहने वाले व्यक्ति को इन नौ तत्त्वों को जानना चाहिए। जानने के बाद आश्रव, पुण्य, पाप, बंध को मोक्षमार्ग में बाधक मानकर उन्हें छोड़ना चाहिए। संवर और निर्जरा को मोक्षमार्ग का साधक मानकर उनका अभ्यास करना चाहिए।

10.16 बोध प्रश्न

1. नव तत्त्व में उपादेय तत्त्व कितने हैं?
2. आश्रव किसे कहते हैं?
3. ध्यान किसे कहते हैं?

संरचना

- 11.1 श्रावकाचार
- 11.2 श्रावक की परिभाषा
- 11.3 श्रावक के बारह व्रत
- 11.4 पांच अणुव्रत
- 11.5 तीन गुणव्रत
- 11.6 चार शिक्षाव्रत
- 11.7 बारह व्रतों की उपयोगिता
- 11.8 सारांश
- 11.9 बोध-प्रश्न

11.1 श्रावकाचार

भगवान महावीर ने चार तीर्थ की स्थापना की—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। साधु-साध्वी का आचार श्रमणाचार कहलाता है तथा श्रावक और श्राविका का आचार श्रावकाचार कहलाता है। आचरण की पवित्रता ही मानव-जीवन का सर्वस्व है। जैन दर्शन में जैसे सम्यग् ज्ञान का महत्त्व है, वैसे ही सम्यग् आचरण का महत्त्व है। केवल ज्ञान या केवल आचरण से मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु दोनों के उचित संयोग से ही मोक्ष मिलता है।

जैन दर्शन के अनुसार श्रावक व्यापार आदि के द्वारा परिवार का निर्वाह करते हुए भी धर्म की आराधना कर सकता है। एक श्रावक अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन तो नहीं कर सकता किन्तु वह अनावश्यक हिंसा को छोड़ सकता है। अनावश्यक हिंसा को छोड़ना धर्म है। इसी प्रकार बड़ी झूठ, बड़ी चोरी का परिहार करना, परस्त्री का त्याग करना और अनावश्यक धन-संग्रह नहीं करना भी धर्म है। श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार जितना संभव हो सकता है, त्याग करने का प्रयास करता है।

11.2 श्रावक की परिभाषा

श्रावक के आचार को समझने से पूर्व श्रावक शब्द का ज्ञान होना आवश्यक है। श्रावक शब्द संस्कृत के 'श्रु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—सुनना। जो श्रमण के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनकर उसका आचरण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

श्रावक शब्द के तीनों अक्षरों पर विचार करने से यह पता चलता है कि ये श्रावक के तीन कर्तव्यों की ओर इंगित करते हैं। प्रथम 'श्रा' अक्षर का अर्थ है—जिनवाणी पर दृढ़ श्रद्धा रखना। द्वितीय 'व' अक्षर का अर्थ है—उचित-अनुचित का विवेक करना। तृतीय 'क' अक्षर का अर्थ है—कर्तव्य के प्रति जागरूक रहना। जो जिनवाणी के प्रति श्रद्धा रखते हुए, उचित-अनुचित का विवेक करते हुए अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक रहता है, वह श्रावक कहलाता है।

11.3 श्रावक के बारह व्रत

भगवान महावीर ने श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान किया है। उनमें से पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

पांच अणुव्रत—1. अहिंसा अणुव्रत, 2. सत्य अणुव्रत, 3. अचौर्य अणुव्रत, 4. ब्रह्मचर्य (स्वदार संतोष) अणुव्रत, 5. अपरिग्रह (इच्छापरिमाण) अणुव्रत।

तीन गुणव्रत—1. दिग्व्रत, 2. भोगोपभोग-परिमाण व्रत, 3. अनर्थदण्ड-विरमण व्रत।

चार शिक्षाव्रत—1. सामायिक व्रत, 2. देशावकासिक व्रत, 3. पौषधोपवास व्रत, 4. अतिथि-संविभाग व्रत।

11.4 पांच अणुव्रत

बारह व्रतों में प्रथम पांच अणुव्रत हैं। अणुव्रत का अर्थ है—छोटा और व्रत का अर्थ है—नियम। श्रमण हिंसा आदि का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं अतः उनके व्रत महाव्रत कहलाते हैं। श्रावक उन व्रतों का पालन आंशिक रूप से करता है अतः उनके व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत पांच हैं।

1. अहिंसा अणुव्रत,
2. सत्य अणुव्रत,
3. अचौर्य अणुव्रत,
4. स्वदार संतोष अणुव्रत,
5. इच्छापरिमाण व्रत।

1. अहिंसा अणुव्रत

श्रावक का प्रथम व्रत अहिंसा अणुव्रत है। इसमें श्रावक स्थूल हिंसा से विरत होता है अतः इसका एक नाम स्थूल प्राणातिपात-विरमण भी है। स्थूल हिंसा का तात्पर्य द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि स्थूल जीवों की हिंसा से है। जैन दर्शन के अनुसार जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। अपने जीवन को चलाने के लिए श्रावक को सूक्ष्म जीवों पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि की हिंसा करनी पड़ती है किन्तु इनकी भी वह अनावश्यक हिंसा नहीं करता है।

श्रमण मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी की, चाहे वह त्रस हो या स्थावर हो, न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न ही करने वालों का समर्थन करता है। इस प्रकार श्रमण हिंसा का तीन योग (मन, वचन, काया) और तीन करण (करना, करवाना और समर्थन करना) से त्याग करता है। श्रावक इस प्रकार हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर सकता। वह केवल त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होता है। उसकी यह विरति तीन योग और दो करण से होती है। वह निरपराध प्राणियों को मन, वचन, काया से न स्वयं मारता है और न दूसरों से मरवाता है। किन्तु परिस्थिति विशेष में स्थूल हिंसा के समर्थन की उसको छूट होती है।

जैन दर्शन में हिंसा के चार प्रकार माने गए हैं—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इनमें से श्रावक संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। वह संकल्पपूर्वक किसी भी त्रसप्राणी की हिंसा नहीं करता। अपने व्यवसाय आदि में तथा दैनिक कार्यों में भी कभी-कभी त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है किन्तु वह संकल्पपूर्वक उनकी हिंसा नहीं करता अतः हिंसा हो जाने पर भी उसका व्रत भंग नहीं होता है।

2. सत्य अणुव्रत

श्रावक का दूसरा व्रत सत्य अणुव्रत है। श्रावक पूर्ण सत्य बोलने का व्रत नहीं ले सकता क्योंकि उसे कभी-कभी परिस्थितिवश असत्य-संभाषण करना पड़ता है। परन्तु यदि वह सावधानी रखे तो बड़ा झूठ बोलने का त्याग कर सकता है। ऐसा झूठ, जिसके बोलने से किसी का बहुत बड़ा नुकसान हो, किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो, ऐसे असत्य संभाषण का त्याग करना सत्य अणुव्रत है। जिस प्रकार श्रावक हिंसा का त्याग तीन योग दो करण से करता है उसी प्रकार असत्य का त्याग भी वह तीन योग और दो करण से करता है। दसवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि व्यक्ति क्रोध, लोभ, भय या हास्यवश असत्य भाषण करता है। अतः श्रावक के लिए कहा गया कि उसे अपने इन भावों पर नियंत्रण रखना चाहिए।

3. अचौर्य अणुव्रत

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य अणुव्रत है। इसमें वह स्थूल चोरी से तीन योग दो करण से विरत होता है। स्थूल चोरी का त्याग करने पर उसका जीवन लोक-व्यवहार की दृष्टि से विश्वसनीय और प्रामाणिक बन जाता है।

श्रावक पूर्ण रूप से चोरी को नहीं छोड़ सकता किन्तु डाका डालकर, ताला तोड़कर, लूट-खसोटकर, बड़ी चोरी का त्याग करना अचौर्य अणुव्रत है। जिस चोरी से राजदण्ड मिले और लोग निन्दा करें, वैसी चोरी बहुत घृणित मानी जाती है। उसे छोड़ना प्रत्येक श्रावक का ही नहीं, प्रत्येक सभ्य व्यक्ति का कर्तव्य है।

4. ब्रह्मचर्य अणुव्रत (स्वदार-संतोष व्रत)

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। इसे स्वदार-संतोष व्रत भी कहा जाता है। श्रावक संन्यासी नहीं होता। अपनी वंश परम्परा को चलाने के लिए वह विवाह करता है। अपनी पत्नी में ही संतोष करना स्वदारसंतोष व्रत है। दूसरे शब्दों में वेश्यागमन और पर-स्त्री संभोग का त्याग करना तथा अपनी स्त्री के साथ भी संभोग की मर्यादा करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। इसी प्रकार स्त्री पर-पुरुष के साथ संभोग का त्याग करती है तथा अपने पति के साथ संभोग की मर्यादा करती है। कामुकता का जितने अंशों में त्याग किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

5. अपरिग्रह अणुव्रत (इच्छापरिमाण व्रत)

श्रावक का पांचवां व्रत अपरिग्रह-इच्छापरिमाण व्रत है। श्रावक पूर्ण अपरिग्रही नहीं हो सकता क्योंकि जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं परिग्रह से ही पूरी होती हैं। सोना, चांदी, मकान, धन आदि सब परिग्रह हैं। परिग्रह के संग्रह की मर्यादा करना अपरिग्रह अणुव्रत है। दुनियां में धन-संग्रह की कोई सीमा नहीं है। मनुष्य जैसे-जैसे उसका संग्रह करता है, लालसा बढ़ती ही जाती है। इस बढ़ती लालसा को रोकने के लिए अपरिग्रह अणुव्रत का विधान है। इसका दूसरा नाम इच्छा-परिमाण भी है। इच्छाएं अनन्त हैं। वे कभी पूरी नहीं होती। एक इच्छा पूरी होती है तो दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उन बढ़ती हुई इच्छाओं की सीमा करना इच्छा-परिमाण व्रत है। भगवान महावीर ने पदार्थ के प्रति मूर्च्छा-आसक्ति को भी परिग्रह कहा है। श्रावक को अपनी इच्छाओं का सीमाकरण करना चाहिए तथा जिन आवश्यक पदार्थों का संग्रह वह करता है, उनके प्रति भी ममत्व नहीं करना चाहिए।

11.5 गुणव्रत

श्रावक के द्वारा स्वीकार किए जाने वाले बारह व्रतों में पांच अणुव्रत तो मूलव्रत हैं और शेष सात व्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रत हैं। गुणव्रतों का विधान अणुव्रतों के विकास के लिए किया गया है। इसलिए अणुव्रतों को सोना तथा गुणव्रतों को सोने की चमक-दमक बढ़ाने वाले पॉलिश के समान कहा गया है। अणुव्रत के पालन में जो कठिनाइयां आती हैं, उन कठिनाइयों को गुणव्रत दूर करते हैं। गुणव्रत के द्वारा अणुव्रत की सीमा में रही हुई मर्यादा को ओर अधिक संकुचित किया जाता है। अणुव्रतों की पुष्टि हेतु तीन गुणव्रत बताये गए हैं—1. दिशापरिमाण व्रत (दिग्रत), 2. भोगोपभोगपरिमाण व्रत, 3. अनर्थदण्डविरमण व्रत।

1. दिशा-परिमाण व्रत

तीन गुणव्रतों में पहला गुणव्रत दिशा-परिमाण व्रत है। इसे दिग्रत भी कहा जाता है। दिग् अर्थात् दिशा। श्रावक को अपने व्यापार या अन्य कार्यवश सभी दिशाओं में यात्रा करनी पड़ती है। पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशाओं में एक सीमा निश्चित कर उस सीमा से बाहर हर तरह के सावध कार्य करने का त्याग करना दिग्रत या दिशा-परिमाण व्रत है। यह व्रत श्रावक के हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रहवृत्ति आदि के जो विस्तृत क्षेत्र हैं, उन्हें सीमित कर देता है। जिस श्रावक ने इस व्रत को स्वीकार किया है उसे इसका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

2. भोगोपभोग-परिमाण व्रत

श्रावक का दूसरा गुणव्रत भोगोपभोग-परिमाणव्रत है। जो वस्तु एक बार उपयोग में आती है उसे भोग कहते हैं, जैसे—भोजन, पानी आदि। जो वस्तु बार-बार उपयोग में आती है उसे उपभोग कहते हैं, जैसे—मकान, वस्त्र, पलंग आदि। भोग और उपभोग में आने वाली वस्तुओं का सीमाकरण करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है।

यह व्रत अहिंसा और अपरिग्रह की रक्षा के लिए है। इसमें श्रावक स्वाद या आसक्तिवश भोगों का सेवन नहीं करता अपितु आवश्यकतावश उनका उपभोग करता है। दिशापरिमाण व्रत में श्रावक मर्यादित क्षेत्र से बाहर के पदार्थ आदि के भोगों से विरत होता है किन्तु निर्धारित क्षेत्र के अन्तर्गत पदार्थों के भोगोपभोग से सर्वथा खुला रहता है, किन्तु इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक मर्यादित क्षेत्र में भी द्रव्य, क्षेत्र काल से पदार्थों के भोग की सीमा कर लेता है। जैसे

अमुक-अमुक पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा, अमुक पदार्थ इतनी बार से अधिक बार काम में नहीं लूंगा या अमुक पदार्थ इतने समय तक ही काम में लूंगा आदि।

3. अनर्थदण्डविरमण व्रत

श्रावक का तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्ड विरमण व्रत है। अपने तथा अपने परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए श्रावक को आवश्यक हिंसा करनी पड़ती है, उससे वह बच नहीं सकता। किन्तु बिना प्रयोजन के की जाने वाली हिंसात्मक प्रवृत्ति का त्याग करना अनर्थदण्डविरमण व्रत है। इस गुणव्रत से प्रधानतया अहिंसा और अपरिग्रह का पोषण होता है। इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक निरर्थक किसी की हिंसा नहीं करता और न निरर्थक वस्तु का संग्रह ही करता है। क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—सार्थक और निरर्थक। सार्थक क्रियाएँ वे हैं जिन्हें सम्पादित करना आवश्यक होता है। शेष अनावश्यक क्रियाएँ निरर्थक क्रियाएँ हैं। सार्थक सावद्य क्रियाओं को करना अर्थदण्ड है और निरर्थक पापपूर्ण क्रियाओं को करना अनर्थदण्ड है। अनर्थदण्ड के अनेक उदाहरण हैं, जैसे—स्नान आदि कार्यों में आवश्यकता से अधिक जल का अपव्यय करना, आवश्यकता से अधिक वृक्ष के पत्तों, पुष्पों को तोड़ना, नल की टॉटी, बिजली अथवा पंखों को खुला छोड़ देना आदि।

11.6 चार शिक्षाव्रत

शिक्षा का अर्थ है—अभ्यास। जिस प्रकार विद्यार्थी पुनः पुनः विद्या का अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक को कुछ व्रतों का पुनः पुनः अभ्यास करना पड़ता है। इसी अभ्यास के कारण इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है। अणुव्रत और गुणव्रत एक ही बार जीवनभर के लिए ग्रहण किये जाते हैं। शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं—

1. सामायिक व्रत,
2. देशावकासिक व्रत,
3. पौषध व्रत,
4. अतिथि-संविभाग व्रत।

1. सामायिक व्रत

पहला शिक्षाव्रत सामायिक है। सामायिक सम और आय—इन दो शब्दों के संयोग से बना है। सम का अर्थ है—समता, समभाव। आय का अर्थ है—लाभ, प्राप्ति। जिससे समभाव का लाभ या समता की प्राप्ति होती है, उसे सामायिक कहते हैं। जैन परम्परा में एक मुहूर्त (48 मिनट) तक सावद्य-प्रवृत्ति का त्याग कर समभाव में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है। सामायिक में समभाव की साधना ही मुख्य है।

2. देशावकासिक व्रत

दूसरा शिक्षाव्रत देशावकासिक व्रत है। एक निश्चित अवधि के लिए हिंसा, असत्य आदि का त्याग करना देशावकासिक व्रत है। पांच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों में जो त्याग किए जाते हैं, वे जीवनभर के लिए किए जाते हैं, किन्तु जो श्रावक इनका त्याग जीवनभर के लिए न करके दो-चार वर्षों के लिए करता है, तो वे सब त्याग (व्रत) देशावकासिक व्रत में आते हैं। दिशापरिमाणव्रत में जीवनभर के लिए दिशाओं की मर्यादा की जाती है। उन दिशाओं की मर्यादाओं के परिमाण में कुछ घंटों या दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना देशावकासिक व्रत है। इसी प्रकार भोगोपभोग-परिमाण व्रत में जो सीमा निर्धारित की गई उसका भोग भी प्रतिदिन नहीं किया जाता, उस निर्धारित सीमा का कुछ घंटों या दिनों के लिए संकुचित करना देशावकासिक व्रत है। उपलक्षण से अन्य व्रतों की स्वीकृत मर्यादाओं को संकुचित करना भी इस व्रत में समाहित है।

3. पौषधोपवास व्रत

तीसरा शिक्षाव्रत पौषधोपवास व्रत है। अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या तथा अन्य किसी तिथि में उपवास के साथ शारीरिक साज-सज्जा को छोड़कर एक दिन-रात तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना पौषधव्रत है। चौविहार उपवास के बिना पौषध व्रत नहीं होता। तिविहार उपवास कर जो चार प्रहर या अधिक समय तक पौषध किया जाता है, वह पौषधव्रत नहीं अपितु देशावकासिक व्रत ही होता है। व्यवहार में उसे पौषध कह दिया जाता है।

आठ प्रहर तक जो पौषध किया जाता है वह प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है। पौषधकाल में श्रावक साधु की तरह हो जाता है। वह उतने समय के लिए गृहस्थ द्वारा किये जाने वाले सभी सावद्य कार्यों से मुक्त हो जाता है। पौषध में वह मुख्य रूप से आत्म-चिन्तन, आत्म-शोधन और आत्म-विकास की दिशा में पुरुषार्थ करता है।

इस व्रत की आराधना में एक दिन-रात (24 घंटे) के लिए निम्न बातों के त्याग किये जाते हैं—

1. चारों आहार के त्याग।
2. कामभोग के त्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन।
3. सोने, चांदी, हीरे आदि के बहुमूल्य आभूषणों का त्याग।
4. माला, गंध आदि धारण का त्याग।
5. हिंसक उपकरणों एवं समस्त दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग।

4. अतिथिसंविभाग व्रत

चौथा शिक्षाव्रत अतिथिसंविभाग व्रत है। अतिथि का अर्थ है—जिसके आने की कोई भी तिथि, दिन या समय निश्चित नहीं है। जो बिना सूचना के अनायास आ जाये, वह अतिथि है। उस अतिथि को अपने लिए तैयार किये गए भोजन आदि पदार्थों में से विभाग कर देना अतिथिसंविभागव्रत है। इसमें मुख्य रूप से पांच महाव्रतधारी साधु-संतों को अतिथि कहा गया है। साधु को शुद्ध दान देने की भावना रखना प्रत्येक श्रावक-श्राविका का कर्तव्य है। साधु के निमित्त कोई वस्तु पकाकर, बाजार से मंगवाकर यदि उसे दी जाती है तो वह अशुद्ध दान है। स्वयं के लिए बनाई गई, मंगवाई गई वस्तु का दान देना शुद्ध दान है। साधु को अशुद्धदान देने का त्याग करना और शुद्धदान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

11.7 बारह व्रतों की उपयोगिता

आचार्य महाप्रज्ञजी ने अपनी पुस्तक जीव-अजीव में श्रावक के बारह व्रतों की उपयोगिता को बताते हुए लिखा है—

1. हिंसा की भावना से परस्पर वैमनस्य बढ़ता है। उससे विरोधी भावना बलवती बनती है। उससे मानवता नष्ट होती है। अतः हिंसा त्याज्य है। श्रावक के पहले व्रत का उद्देश्य है—‘मेत्ती में सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ’—सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर-भावना नहीं है।

2. समाज के सारे व्यवहार का आधार सत्य है। उसके बिना एक दिन भी काम नहीं चल सकता। लेन-देन के बिना काम नहीं चलता और वह विश्वास के बिना नहीं होता और विश्वास सत्य के बिना नहीं होता। इसलिए सत्य सदा अपेक्षित है।

3. दूसरों पर अधिकार जमाने, लूट-खसोट करने, डाका डालने और आक्रमण करने से अशांति का वातावरण पैदा होता है। जनता तिलमिला उठती है। चारों ओर भय छा जाता है। अतः स्थायी शांति के लिए सभी अपराधों का त्याग करना सबके लिए अनिवार्य है। श्रावक के अस्तेय-व्रत की यह एक महती उपयोगिता है। चोरी सामाजिक विष है। समाज की उन्नति के लिए भी इस विष का नाश अपेक्षित होता है।

4. ब्रह्मचर्य ही जीवन है। उसके बिना मनुष्य निःसत्व, बलहीन, दीन और सुषुप्त बन जाता है। ब्रह्मचारी का आत्मविश्वास अटल होता है। उसे न्यायमार्ग से कोई विचलित नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी का आत्मबल बड़ा विचित्र होता है। शक्ति-सम्पन्न समाज के निर्माण में ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा योग है।

5. धन-धान्य आदि वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संचय करना सार्वजनिक हित के प्रतिकूल है। समाजवादी कहते हैं कि एक धनकुबेर हो और दूसरा एकदम दरिद्र—ऐसी व्यवस्था हम देखना नहीं चाहते। अपरिग्रह-व्रत का हार्द भी यही है कि अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह मत करो।

6. दिग्-व्रत से विस्तारवादी मनोवृत्ति कम होती है। सभी दिशाओं में जाने की मर्यादाएँ हो जाए तो सहज ही शोषण और आक्रमण जैसी स्थितियाँ हट जायें। जिनमें विस्तारवादी भावनाएँ होती हैं, वे व्यापार करने व दूसरों पर अधिकार करने

को दूर-दूर तक जाते हैं। किन्तु दिग्ब्रती बहुत दूर तक या तो जाता ही नहीं और जाता है तो व्यापार या आक्रमण के लिए नहीं जाता।

7. कहा जाता है कि अपने देश की उद्योग-वृद्धि के लिए विदेशी वस्तुओं का उपभोग मत करो। भोग्य पदार्थों का अधिक संचय मत करो। सातवें व्रत को अच्छी तरह अपना लेने से यह बात सहज ही फलित हो जाती है। जो व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है कि मैं अपने देश में बनी हुई वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को काम में नहीं लाऊँगा, इतनी से अधिक वस्तुओं को काम में नहीं लाऊँगा, तब उससे आत्म-कल्याण के साथ-साथ देश की उन्नति सहज ही हो जाती है।

8. गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए हिंसा करता है पर उसे कम से कम अनर्थ पाप से अवश्य बचना चाहिए। बिना प्रयोजन चलते-फिरते किसी जीव को मार डालना, गाली देना, झगड़ा करना, ईर्ष्या करना, द्वेष करना, बिना मतलब पानी गिराना, वनस्पति को कुचलते हुए चलना, अग्नि को जलाकर छोड़ देना, घी-तेल आदि के बर्तनों को खुला रख देना—इत्यादि ऐसे अनेक काम हैं, जिनसे बचना आत्म-कल्याण के लिए तो उपयोगी है ही, सामाजिक दृष्टि से भी उपादेय है।

9. समता सबसे बड़ा सुख है। विषमता दुःख है। गृहस्थ समता की आराधना से वंचित न रहे, इसलिए नौवें व्रत का विधान है। एक मुहूर्त तक आत्म-चिन्तन आदि के द्वारा समता (सामायिक) की आराधना करने से वास्तविक शान्ति का अनुभव होता है।

10. दैनिक चर्या की विशुद्धि के लिए दसवाँ व्रत है। खाने-पीने या भोग्य पदार्थों की दुनिया में कमी नहीं। मनुष्य लोलुपता के वशीभूत होकर उनका अधिक से अधिक उपभोग करता है। परन्तु उससे शारीरिक एवं मानसिक—दोनों तरह की हानि होती है। दसवाँ व्रत सिखाता है कि भोग्य-पदार्थों की असारता को समझकर आत्म-संयम करना सीखो। यदि भोग्य-पदार्थों का त्याग एक साथ न हो सके तो अवधि-सहित ही करो। यदि अधिक अवधि तक न हो सके तो एक-एक दिन के लिए करो या उससे भी कम समय के लिए करो। उससे आत्म-कल्याण होगा। साथ ही साथ स्वास्थ्य भी सुधरेगा, मानसिक शक्ति भी दृढ़ होगी, आत्मबल भी बढ़ेगा।

11. ग्यारहवें व्रत में वर्ष में कम से कम एक पौषध-उपवास करना ही चाहिए। इससे आत्मिक आनन्द का अनुभव होता है। स्वास्थ्य का भी इससे गहरा सम्बन्ध है।

12. बारहवें व्रत में संविभाग का उपदेश है। अपने खाने-पीने और पहनने की वस्तु का कुछ विभाग मुनि को देना श्रावक का धर्म है। इस प्रकार दान से जो कमी हो, उसकी पूर्ति के लिए हिंसा आदि न कर आत्म-संयम करना चाहिए। गृहस्थ के लिए भोजन बनाया जा सकता है, मोल भी लिया जा सकता है परन्तु साधु ऐसे आहार को कभी नहीं लेता। अतः श्रावक का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने लिए बनाई वस्तु का कुछ अंश साधु को दान दे। यह पात्र-दान है, आत्मसंयम है। इस प्रकार श्रावक के बारह व्रत जहाँ वैयक्तिक विकास के हेतु बनते हैं, वही समाज और राष्ट्र भी इससे लाभान्वित होता है।

11.8 सारांश

जैन दर्शन घर में रहकर साधना करने की प्रक्रिया श्रावकाचार के माध्यम से प्रस्तुत करता है। श्रावक के ये आचार जहाँ स्वयं के आत्म-विकास के हेतु बनते हैं, वही इसका व्यापक प्रभाव समाज पर भी पड़ता है।

11.9 बोध-प्रश्न

1. श्रावक किसे कहते हैं?
2. तीन गुणव्रत के नाम लिखें।
3. अतिथि संविभाग व्रत से क्या तात्पर्य है?

संरचना

- 12.1 जैन जीवनशैली
- 12.2 नवसूत्री जीवनशैली
- 12.3 सम्यक् दर्शन
- 12.4 अनेकान्त
- 12.5 अहिंसा
- 12.6 समण संस्कृति
- 12.7 इच्छा परिमाण
- 12.8 सम्यक् आजीविका
- 12.9 सम्यक् संस्कार
- 12.10 आहार शुद्धि एवं व्यसन मुक्ति
- 12.11 साधर्मिक वात्सल्य
- 12.12 सारांश
- 12.13 बोध-प्रश्न

12.1 जैन जीवनशैली

जन्म और मृत्यु जीवन के दो किनारे हैं। उन पर हमारा अधिकार नहीं है। कब, कहाँ, किस रूप में जन्म लेना या मृत्यु को प्राप्त करना, यह व्यक्ति के वश में नहीं है। जन्म और मृत्यु के बीच का जो जीवन है, उस पर व्यक्ति का अधिकार है। उस जीवन को व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जी सकता है। अच्छा जीवन जीने के लिए आवश्यक है—अच्छी जीवन-शैली का होना। शैली शब्द शील से बना है। शील का अर्थ है—स्वभाव। संस्कृत-अंग्रेजी कोश में शैली का अर्थ—बिहेवियर-व्यवहार किया गया है। जीवनशैली से तात्पर्य है—जीवन का व्यवहार अथवा जीवन की कार्यप्रणाली। एक गृहस्थ की जीवनशैली में कुछ सहज अच्छे संस्कार बन जाएँ, यह अपेक्षित है।

प्राचीन आचार्यों ने जैन गृहस्थ के लिए एक जीवनशैली निर्धारित की, जिसमें सप्त व्यसन के परिहार की बात थी। सप्त व्यसन हैं—1. शराब नहीं पीना, 2. मांस नहीं खाना, 3. जुआ नहीं खेलना, 4. शिकार नहीं करना, 5. चोरी नहीं करना, 6. वेश्यागमन नहीं करना तथा 7. परस्त्रीगमन नहीं करना।

उस समय यह एक जीवनशैली बन गई थी कि जो जैन श्रावक होगा, वह इस आधार पर चलेगा। वही शैली आज तक चली आ रही है। पर इस बदलते हुए युग में, समाज की बदलती हुई अवधारणाओं में जीवनशैली भी विकृत होती जा रही है अतः उस पर पुनर्विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा था।

आचार्य तुलसी ने इस विषय पर चिंतन किया और एक गृहस्थ की जीवनशैली का निर्धारण किया, जिसमें जीवनशैली के मुख्य नौ सूत्र हैं। उनका मानना है कि इस जैन-जीवनशैली में जन-जीवनशैली अर्थात् मानव मात्र की जीवनशैली बनने की क्षमता है। जो भी इस जीवनशैली को अपनाएगा, वह सुख और शांति का जीवन जी सकेगा।

12.2 नवसूत्री जैन जीवनशैली

जैन जीवनशैली के नौ सूत्र निम्नलिखित हैं—

1. सम्यक् दर्शन,
2. अनेकान्त,
3. अहिंसा,

- | | | |
|--------------------|--------------------------------|-----------------------|
| 4. समण-संस्कृति, | 5. इच्छा-परिमाण, | 6. सम्यक् आजीविका, |
| 7. सम्यक् संस्कार, | 8. आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति, | 9. साधर्मिक वात्सल्य। |

12.3 सम्यक् दर्शन

जीवनशैली का पहला सूत्र है—सम्यक् दर्शन। सम्यक् दर्शन अर्थात् सही एवं सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास। मिथ्या दृष्टिकोण वाला व्यक्ति कभी भी अच्छा जीवन नहीं जी सकता। अच्छे जीवन के लिए आवश्यक है दृष्टिकोण विधायक बने तथा निषेधात्मक भाव दूर हों। जिस व्यक्ति के तीव्रतम कषाय उपशान्त होते हैं, उसी का दृष्टिकोण सम्यक् होता है। जो छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित होता रहता है, वह जीवन को सही रूप में समझ और जी नहीं सकता। सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है। अन्धानुकरण एवं अंधविश्वास की प्रवृत्ति से उसे छुटकारा मिलता है। अतः जीवनशैली का प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण आयाम है—सम्यक् दर्शन।

12.4 अनेकान्त

जीवनशैली का दूसरा सूत्र है—अनेकान्त। आग्रह-विग्रह का मूल कारण है—एकान्त दृष्टिकोण। जहाँ अनेकान्त का सिद्धान्त सामने होता है, वहाँ आग्रह-विग्रह टिक नहीं सकते। निरपेक्ष दृष्टिकोण के कारण आग्रह होता है। अनेकान्त सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास करता है, जिससे 'मैं जो कहता सत्य वही है, तू जो कहता सत्य नहीं है' ऐसा आग्रह नहीं पनपता। अनेकान्तिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति हर कथन में सत्य खोजने का प्रयास करता है। अनेकान्त विवादास्पद प्रसंगों में सामंजस्य तथा समन्वय की मनोवृत्ति का विकास करता है। यह जिसकी जीवनशैली का अंग बन जाता है, उसके आवेश समाप्त हो जाते हैं। सामुदायिक जीवन भी अच्छा बन जाता है। वह छोटी-छोटी बातों में उलझता नहीं अपितु अनेकान्तिक जीवनशैली के कारण हर परिस्थिति में सामंजस्य स्थापित कर लेता है।

12.5 अहिंसा

जीवनशैली का तीसरा सूत्र है—अहिंसा। हिंसा और जीवन दोनों आपस में जुड़े हुए हैं। गृहस्थ जीवन हिंसा के बिना नहीं चल सकता अतः एक गृहस्थ पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। जीवन-यापन के लिए हिंसा अपरिहार्य है। अहिंसक जीवनशैली से तात्पर्य पूर्ण अहिंसक बनने से नहीं अपितु अनावश्यक की जाने वाली हिंसा को छोड़ने से है। हिंसा का अल्पीकरण करने से है।

- ❖ हिंसा के अल्पीकरण का पहला प्रयोग है—अनावश्यक हिंसा का वर्जन करना।
- ❖ हिंसा के अल्पीकरण का दूसरा प्रयोग है—आक्रामक वृत्ति का परित्याग करना।
- ❖ हिंसा के अल्पीकरण का तीसरा प्रयोग है—आत्महत्या का परित्याग करना।
- ❖ हिंसा के अल्पीकरण का चौथा प्रयोग है—भ्रूणहत्या का परित्याग करना।

अहिंसक जीवनशैली में इन चारों का बहुत महत्त्व है। अहिंसक जीवनशैली से मानवीय संबंधों का विकास होता है, पारिवारिक और सामाजिक संबंधों का विकास होता है। मैत्री और करुणा का विकास होता है।

12.6 समण संस्कृति

जीवनशैली का चौथा सूत्र है—समण संस्कृति। समानता, उपशमभाव और श्रमशीलता का संगम समण संस्कृति का प्राण है। समानता की भावना से मानवीय एकता की भावना को बल मिलता है तथा जातीय छुआछूत की समाप्ति होती है। उपशमभाव आध्यात्मिक विकास के लिए जितना आवश्यक है, अच्छा जीवन जीने के लिए भी उतना ही जरूरी है। श्रम अर्थात् पुरुषार्थ के बिना कोई भी समाज प्रगति नहीं कर सकता। आज की बढ़ती हुई सुविधावादी मनोवृत्ति का परिष्कार श्रमनिष्ठा के संस्कारों से ही संभव है। श्रमशीलता के अभाव में न तो शारीरिक स्वास्थ्य सुरक्षित रह सकता

है और न मानसिक प्रसन्नता बनी रह सकती है। इसीलिए सम, शम और श्रम प्रधान जीवनशैली को ही समण संस्कृति में स्थान दिया गया है।

12.7 इच्छापरिमाण

जीवनशैली का पांचवां सूत्र है—इच्छा का परिमाण। जब तक जीवन में इच्छा-परिमाण की बात नहीं आती तब तक अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। आज वैश्विक स्तर पर कुछ समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं, उनमें से कुछ हैं—

- ❖ पदार्थ के भोग और संग्रह की सीमा का अभाव।
- ❖ प्रसाधन सामग्री के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण।
- ❖ विसर्जन शून्य अर्जन।
- ❖ पदार्थ के प्रति बढ़ती हुई आसक्ति।

इन समस्याओं का समाधान हर स्तर पर खोजा जा रहा है। 'इच्छा-परिमाण' इसका अच्छा समाधान है। जब जीवन में इच्छाओं का सीमाकरण हो जाता है तो पदार्थ के भोग और संग्रह की सीमा स्वतः हो जाती है। क्रूर हिंसाजनित प्रसाधन सामग्री का परिहार होता है, अर्जन के साथ विसर्जन की मनोवृत्ति का विकास होता है तथा पदार्थ के प्रति अनासक्ति की चेतना जागृत होती है।

12.8 सम्यक् आजीविका

जीवनशैली का छठा सूत्र है—सम्यक् आजीविका। वर्तमान युग अर्थप्रधान युग है। अर्थ का संबंध जीवन-यापन से है। अर्थ के अभाव में जीवन-यापन असंभव है। अर्थ-प्राप्ति के लिए व्यक्ति व्यवसाय करता है किन्तु अर्थ के प्रति बढ़ती हुई लालसा उसके व्यवसाय को सम्यक् नहीं रहने देती। अधिक अर्जन, अधिक संग्रह और अधिक भोग की मनोवृत्ति के कारण आज अर्जन के तरीके सही नहीं हैं, जिसके कारण उग्रवाद, आतंकवाद, डकैती, अपहरण, हत्या आदि घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। अतः आवश्यक है आजीविका की शुद्धि पर ध्यान दिया जाए। सम्यक् आजीविका का सिद्धान्त स्वस्थ समाज का दर्शन है। इसके अनुसार मुख्य रूप से तीन प्रकार के व्यवसाय त्याज्य हैं—

- ❖ धोखाधड़ी वाले व्यवसाय।
- ❖ लोक में घृणित माने जाने वाले व्यवसाय।
- ❖ पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले व्यवसाय।

जैन जीवनशैली व्यवसाय में साधन-शुद्धि की प्रेरणा देती है। इससे व्यावसायिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याओं का समाधान स्वतः होता है।

12.9 सम्यक् संस्कार

जीवनशैली का सातवां सूत्र है—सम्यक् संस्कार। वैदिक परम्परा के अनुसार जन्म से मृत्यु तक मनुष्य जीवन में सोलह संस्कारों को महत्वपूर्ण माना गया है। इनमें से अनेक संस्कार जैन परिवारों में भी मान्य हैं। उन संस्कारों, पर्व, उत्सवों को जैन संस्कार विधि से मनाना चाहिए। जैन संस्कार विधि संयम और सादगी की प्रतीक है। आज बच्चों में, बड़ों में पाश्चात्य संस्कृति हावी होती जा रही है, वे अपनी भारतीय संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। बड़ों का विनय करना, उन्हें प्रणाम करना, उनकी आज्ञा का पालन करना मात्र उपदेश रह गया है। इसलिए जैन जीवनशैली का एक सूत्र रखा गया है—सम्यक् संस्कार। हमारी जीवनशैली संस्कारी हो।

12.10 आहारशुद्धि व व्यसनमुक्ति

जीवनशैली का आठवां सूत्र है—आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति। स्वस्थ और संतुलित जीवन के लिए आहारशुद्धि बहुत आवश्यक है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य की वृद्धि में भी आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति की प्रमुख भूमिका है। आवेश और आवेग पर नियंत्रण रखने के लिए तथा अपराधों से बचने के लिए भी आहारशुद्धि आवश्यक है।

श्रावक की चर्या सब प्रकार के व्यसन से मुक्त होनी चाहिए। उसके खान-पान में शराब, मांस और अण्डों का समावेश या इनका मिश्रण भी नहीं होना चाहिए। पानपराग, गुटखा, चुटकी, जर्दा, अफीम आदि नशीले पदार्थों का सम्पर्क भी सदा वर्जित रहना चाहिए। इंग्लैण्ड के प्रोफेसर हैगे ने अपनी पुस्तक 'यूरिक एसिड और रोगों का कारण' में लिखा है—मांस और अण्डे में यूरिक एसिड होती है। उससे गठिया, लकवा, अनिद्रा, मधुमेह, नेत्रविकार आदि अनेक बीमारियाँ हो सकती हैं। उनके सेवन से बौद्धिक और भावनात्मक विकास भी रुक जाता है। अतः आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति का अभ्यास स्वस्थ रहने का एक बहुत बड़ा उपाय है।

12.11 साधर्मिक वात्सल्य

जीवनशैली का नौवां सूत्र है—साधर्मिक वात्सल्य। साधर्मिक वात्सल्य जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। आज के युग में इसे भाईचारे का रूप दिया जा सकता है। एक ही धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाले लोगों के प्रति भाईचारे का व्यवहार करना साधर्मिक वात्सल्य है। साधर्मिक व्यक्ति की विशेषताओं का खुले मन से गुणगान करना, धर्म के क्षेत्र में अस्थिर साधर्मिक को प्रेरणा देकर धर्म में पुनः स्थिर करना तथा उनके प्रति आत्मीयपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। इससे जातीय सद्भाव, साम्प्रदायिक सद्भाव बढ़ता है।

12.12 सारांश

इस प्रकार यह नवसूत्री जैन जीवनशैली एक चमत्कारिक जीवनशैली है। इसे अपनाने वाले व्यक्ति स्वस्थ समाज-संरचना की इकाई बन सकते हैं।

12.13 बोध प्रश्न

1. सप्त व्यसन के नाम लिखें।
2. जीवनशैली के नौ सूत्र कौन-से हैं?
3. साधर्मिक वात्सल्य क्या है?

अभ्यास प्रश्नावली

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पुद्गल किसे कहते हैं?
2. लोक का आकार कैसा है?
3. लोक-अलोक की विभाजक रेखा क्या है?
4. ज्ञान का सार क्या है?
5. जैन दर्शन के अनुसार क्या आत्मा का अस्तित्व त्रैकालिक है?
6. निर्जरा किसे कहते हैं?
7. जीव का लक्षण क्या है?
8. पाप के कितने प्रकार हैं?
9. सामायिक गुणव्रत है या शिक्षाव्रत?
10. किस प्रकार के व्यवसाय त्याज्य हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. धर्मास्तिकाय का विवेचन करें।
2. लोक के प्रकार बतायें।
3. जैन आचारशास्त्र की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
4. पुण्य और पाप तत्त्व का विवेचन करें।
5. पांच अणुव्रत को समझाएँ।
6. जीवनशैली के किन्हीं दो सूत्रों पर प्रकाश डालें।

निबंधात्मक प्रश्न

1. सत् के स्वरूप पर प्रकाश डालें।
2. जैन दर्शन में लोकवाद पर एक निबंध लिखें।
3. जैन आचार के आधार और स्वरूप का विवेचन करें।
4. नव तत्त्व पर प्रकाश डालें।
5. श्रावकाचार को समझाते हुए उसकी सामाजिक उपयोगिता पर प्रकाश डालें।
6. जैन जीवनशैली का विवेचन करें।

संवर्ग-3 : जीवन विज्ञान और मूल्य विकास

प्रस्तावना

आज शिक्षा जगत् में विकास तथा जीविकोपार्जन के लिए अनेक विद्या शाखाएँ हैं। पर जीवन मूल्यों की स्थापना, आध्यात्मिक विकास, भावनात्मक विकास, आन्तरिक रूपान्तरण हेतु विद्या शाखा का नितान्त अभाव है। इसका दुष्परिणाम है कि शिक्षा जगत् में अनैतिकता, भ्रष्टाचार, उच्छृंखलता, उद्वण्डता, तोड़-फोड़, चरित्रहीनता, मादक द्रव्यों का सेवन इत्यादि तेजी के साथ बढ़ते जा रहे हैं। शिक्षा जगत् के सामने प्रश्न है कि क्या आज की शिक्षा मनुष्य को सही अर्थों में मनुष्य बना रही है? इस प्रश्न के समाधान के लिए अपेक्षा है एक ऐसी विद्या शाखा विकसित हो, जो शिक्षा को जीवनोन्मुखी बना सके। व्यक्ति के भावनात्मक पक्ष एवं आध्यात्मिक पक्ष को उजागर कर सके, क्योंकि आध्यात्मिक विकास और भावनात्मक विकास ही नैतिकता और चरित्र का मूल आधार है।

इस रिक्तता की पूर्ति के लिए आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षा जगत् को एक अभिनव अवदान दिया। शिक्षा जगत् में एक नई विद्या शाखा का बीजारोपण किया। वह विद्या शाखा 'जीवन-विज्ञान' के नाम से अंकुरित व पल्लवित हो रही है।

जीवन विज्ञान एक संतुलित एवं परिपूर्ण विद्या शाखा है। संतुलित इसलिए है कि इसमें शारीरिक व बौद्धिक विकास के साथ-साथ मानसिक तथा भावनात्मक विकास का संतुलन स्थापित किया गया है। परिपूर्ण इसलिए है कि इसमें सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ प्रायोगिक अभ्यास भी अनिवार्य रूप से कराया जाता है। शिक्षा का अर्थ है-ग्रहण (जानना) तथा आसेवन (अभ्यास) करना। आसेवन के बिना शिक्षा परिपूर्ण नहीं हो सकती, अधूरी रहती है। इस विद्या शाखा में ज्ञान के साथ-साथ आचरण और अभ्यास पर बहुत बल दिया गया है।

शिक्षा का सबसे पहला और महत्वपूर्ण लक्ष्य है-चरित्र का निर्माण करना। इसके लिए जीवन में मूल्यों का संप्रेषण आवश्यक है। जीवन में मूल्यों को विकसित करने के लिए मूल्यों को समझना जरूरी है। अनुप्रेक्षा के माध्यम से मूल्यों का विकास किया जा सकता है। प्रस्तुत संवर्ग 'जीवन विज्ञान और मूल्य विकास' में निम्नलिखित इकाइयों का विवेचन किया जा रहा है—

इकाई 13—जीवन विज्ञान : उद्भव और विकास

इकाई 14—जीवन विज्ञान : संतुलित शिक्षा प्रणाली

इकाई 15—जीवन विज्ञान के सात अंग

इकाई 16—जीवन विज्ञान में सोलह मूल्य

इकाई 17—मूल्य विकास की प्रक्रिया : अनुप्रेक्षा

इकाई 18—आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व।

उद्देश्य

इस संवर्ग का अध्ययन करने के बाद आप—

- ◆ जीवन विज्ञान के उद्भव और विकास को जान सकेंगे।
- ◆ जीवन विज्ञान एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है, इससे अवगत हो सकेंगे।
- ◆ जीवन को समग्रता से जान सकेंगे।
- ◆ सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मूल्यों से परिचित हो सकेंगे।
- ◆ मूल्य विकास में अनुप्रेक्षा की भूमिका को समझ सकेंगे।
- ◆ अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया को ज्ञात कर सकेंगे।
- ◆ आध्यात्मिक व्यक्तित्व की कसौटियों को जान सकेंगे।
- ◆ वैज्ञानिक व्यक्तित्व निर्मित कर सकेंगे।

संरचना

- 13.1 जीवन विज्ञान : उद्भव एवं विकास
- 13.2 जीवन विज्ञान : स्वरूप
- 13.3 जीवन विज्ञान : लक्ष्य एवं उद्देश्य
- 13.4 जीवन विज्ञान : प्रकृति
- 13.5 सारांश
- 13.6 बोध-प्रश्न

13.1 जीवन विज्ञान : उद्भव एवं विकास

यह सच है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है तथापि इस प्रणाली ने जनमानस के बौद्धिक स्तर को अत्यधिक ऊँचाई प्रदान की है। शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान केन्द्रित किया है, परन्तु अध्यात्म एवं नैतिकता की उपेक्षा, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के असंतुलन ने देश और समाज में अनेक समस्याएँ भी खड़ी की हैं। डॉक्टर की उपाधि प्राप्त बौद्धिक व्यक्ति छोटी-सी प्रतिकूल परिस्थिति में घबराकर आत्महत्या करते हुए दिखाई देने लगे हैं। अनेक विद्यार्थियों का परीक्षा में कम अंक प्राप्त करने पर नींद की गोली खाकर सदा के लिए सो जाना एक आम घटना बन गई है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के इस विकृत एवं एकांकी पक्ष ने आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ के कोमल मन को झकझोरा। परिणामतः अंग्रेजों की गुलामी से स्वतन्त्र परन्तु स्वयं के संवेग एवं आवेश से परतन्त्र भारतीय जनता को भावनात्मक स्वस्थता प्रदान करने हेतु दोनों का संयुक्त चिन्तन चला। चिन्तन से निष्कर्ष निकला—विद्यार्थी देश और समाज का कर्णधार है। विद्यार्थी के बहुमुखी विकास का आधार है—शिक्षा। अतः शिक्षा पद्धति में परिवर्तन किया जाए। एक ऐसे पाठ्यक्रम का निर्धारण किया जाए, जो नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों से ओतप्रोत हो, जो हमारी संस्कृति को अपने भीतर संजोए हुए हो, जिसमें विद्यार्थी के बौद्धिक एवं शारीरिक विकास के साथ मानसिक एवं भावनात्मक विकास का स्तर भी ऊँचा उठे। इसी चिन्तन के परिणामस्वरूप एक नवीन पाठ्यक्रम सामने आया, जिसे वर्तमान शिक्षा पद्धति के साथ जोड़कर नाम दिया गया—‘जीवन विज्ञान’।

जीवन विज्ञान एक सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक शिक्षा पद्धति है। यह सैद्धान्तिक पक्ष के रूप में ‘अणुव्रत’ और प्रायोगिक पक्ष के रूप में ‘प्रेक्षाध्यान’ का सम्मिलित रूप है।

अणुव्रत छोटे-छोटे संकल्पों की एक आचार-संहिता है। जीवन मूल्यों के विकास तथा नैतिक चेतना के जागरण हेतु तैयार की गई इस आचार-संहिता को आचार्य तुलसी ने 2 मार्च, 1949 में ‘अणुव्रत’ के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। अणुव्रत के इन नियमों को लाखों लोगों ने स्वीकार किया। 1965 में कोठारी आयोग के अध्यक्ष डॉ. डी.एस. कोठारी एवं मुख्य सचिव श्री जे.पी. नाइक ने आचार्य तुलसी के साथ शिक्षा की समस्याओं के सन्दर्भ में विचार-विमर्श किया तथा अणुव्रत द्वारा नैतिक एवं चारित्रिक उत्थान के लिए एक पाठ्यक्रम की मांग की। आचार्य महाप्रज्ञ के निर्देशन में पाठ्यक्रम तैयार भी किया गया। परन्तु सरकारी स्तर पर कुछ कठिनाइयों के कारण यह कार्य आगे नहीं बढ़ सका। बहुत से लोगों ने अणुव्रत के नियमों को स्वीकार किया परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में उन नियमों पर दृढ़ नहीं रह पाए। तब आचार्य तुलसी को संकल्प शक्ति के विकास के लिए प्रायोगिक प्रक्रिया की आवश्यकता महसूस हुई।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी की प्रेरणा पाकर आचार्य महाप्रज्ञ ने सन् 1962 में ध्यान के प्रयोग प्रारम्भ किये। तेरह वर्ष तक निरन्तर दीर्घकालीन अनुसंधान और अन्वेषण से प्रेक्षाध्यान के रूप में व्यवहार-परिवर्तन के

लिए उन्होंने एक प्रायोगिक पद्धति प्रस्तुत की। अनेक व्यक्तियों ने इन प्रयोगों को अपनाया एवं अपने व्यवहार में परिवर्तन महसूस किया।

फलतः वर्तमान शिक्षा पद्धति की समस्याओं के निराकरण हेतु अणुव्रत के सिद्धान्तों एवं प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों के आधार पर एक संयुक्त पाठ्यक्रम तैयार किया गया—‘जीवन विज्ञान’। अणुव्रत, अनेकान्त, अहिंसा, प्रेक्षाध्यान जिसके मुख्य विषयवस्तु रहे।

जीवन विज्ञान को जीवन विज्ञान नाम देने से पूर्व नाम के सन्दर्भ में अनेक चिन्तन चले। अनेक नाम सामने आए—योग शिक्षा, नैतिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, मूल्यपरक शिक्षा। इन नामों पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया।

1. योग शिक्षा

अनेक शिक्षा आयोगों का अभिमत रहा कि इस शिक्षा को ‘योग शिक्षा’ नाम दिया जाए, परन्तु इस नाम की अपनी सीमाएं थी। आज योग का अर्थ केवल आसन-प्राणायाम तक ही सीमित कर दिया गया है। जबकि नये पाठ्यक्रम का विषय-वस्तु विस्तृत था। अहिंसा, अनेकान्त जैसे विस्तृत विषय-वस्तु से युक्त पाठ्यक्रम को केवल योग-शिक्षा नाम देना उचित प्रतीत नहीं हुआ। इस नाम से समग्र विकास की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसलिए योग शिक्षा नाम पूर्णरूप से सटीक नहीं लगा।

2. नैतिक शिक्षा

‘नैतिक शिक्षा’ इस नाम पर चिन्तन चला पर ‘नैतिक’ शब्द अपने आप में स्पष्ट नहीं था। नैतिक शिक्षा एक उपदेशात्मक प्रक्रिया है। उपदेश का प्रभाव व्यापक एवं स्थायी नहीं रहता। स्थायित्व के लिए प्रयोग एवं अभ्यास आवश्यक हैं। नये पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य प्रयोग एवं अभ्यास था परन्तु नैतिक शिक्षा नाम देने से नये पाठ्यक्रम के मुख्य उद्देश्य की स्पष्टता का अभाव हो रहा था। अतः यह नाम भी उपयुक्त नहीं लगा।

3. स्वास्थ्य शिक्षा

स्वास्थ्य शिक्षा का भी क्षेत्र सीमित है। यह भी शरीर तक ही सीमित रह जाता है। इससे सामाजिक विकास, अध्यात्मिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए यह नाम भी उचित प्रतीत नहीं हुआ।

4. मूल्यपरक शिक्षा

यह सही है कि जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा भी है परन्तु उक्त नाम देने में कुछ कठिनाई थी। केन्द्रीय सरकार इस नाम पर कार्य कर रही थी। इसलिए एक नये नाम का चिन्तन चलता रहा। परिणामस्वरूप नया नाम सामने आया—जीवन विज्ञान।

5. जीवन विज्ञान

आचार्य महाप्रज्ञ नए शब्द की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—“जीवन विकास के लिए नए शब्द की आवश्यकता है, जो धर्म की मूल भावनाओं का स्पर्श करने वाला हो। जीवन में धर्म का विकास, नैतिकता का विकास, अध्यात्म का विकास करने वाला हो। योग शिक्षा, नैतिक शिक्षा आदि ये शब्द आज विवाद के विषय बन गये हैं। इसलिए नया शब्द ढूँढना चाहिए, जो आज के मानस को स्पर्श कर सके, इस दृष्टि से सोचने पर एक नया नाम सामने आया है—जीवन विज्ञान। इसकी प्रक्रिया का किसी धर्म विशेष से सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध जीवन से है। यह नाम समग्र मानव जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। यह नाम व्यापक और असाम्प्रदायिक है तथा नैतिक शिक्षा, योग शिक्षा सबको समाहित करता है।

28 दिसम्बर, 1978 को आचार्य महाप्रज्ञ ने इस ‘अध्यात्म-योग-नैतिक शिक्षा’ के उपक्रम को ‘जीवन विज्ञान’ की संज्ञा दी। यह सम्पूर्ण उपक्रम ‘जीवन विज्ञान’ अर्थात् जीवन जीने की कला के विकास के नाम से आगे बढ़ा।

यही जीवन विज्ञान के उद्भव और विकास का संक्षिप्त इतिहास है तथा शिक्षा के क्षेत्र में जीवन विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है।

13.2 जीवन विज्ञान : स्वरूप

जीवन विज्ञान : अर्थ

जीवन विज्ञान-जीवन और विज्ञान इन दो शब्दों के योग से बना है। जीवन को परिभाषित करते हुए कहा गया—“**जीवन प्राणधारण**”। प्राण को धारण करना जीवन है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जीवन का अर्थ है—शरीर, श्वास, प्राण, मन, चित्त, कर्म और भाव का सम्मिलित रूप। विज्ञान का अर्थ है—विशेष रूप से वस्तु के स्वरूप को जानना। इस अर्थ में जीवन विज्ञान का अर्थ है—जीवन के मूलभूत अंग, जीवन के सम्पूर्ण पक्ष, जीवन के सही स्वरूप को विशेष रूप से जानने वाला विज्ञान। सरल शब्दों में कहा जाए तो जीवन विज्ञान चारित्रिक और नैतिक विकास की सैद्धांतिक और प्रायोगिक शिक्षा पद्धति है।

जीवन विज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा गया—

1. जीवन विज्ञान सम्यक् जीवन जीने की कला के विज्ञान का प्रशिक्षण है।
2. जीवन विज्ञान अहिंसा की शिक्षा, नैतिकता की शिक्षा, आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा पद्धति का नाम है।
3. शिक्षा में ‘अणुव्रत’ और ‘प्रेक्षाध्यान’ की समन्वित पद्धति का नाम जीवन विज्ञान है।
4. जीवन के नियमों की खोज का नाम जीवन विज्ञान है।
5. जीवन के मुख्य अंगों पर विचार एवं प्रयोग का नाम जीवन विज्ञान है।

जीवन विज्ञान के विविध पहलुओं के आधार पर इस ‘नई विद्या शाखा’ को समग्रता से इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—“Science of living is a science which studies the fundamentals of living, techniques for their development and their application in different fields of life, ultimately to bring about the development of a balanced life, human values and integrated personality.” “जीवन विज्ञान वह विज्ञान है, जो जीवन के मुख्य अंग, उनके विकास के साधन एवं उनका जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग का वैज्ञानिक अध्ययन करता है, जिसकी परिणति संतुलित जीवन, मानवीय मूल्य एवं सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास के रूप में होती है।”

इस परिभाषा को तीन भागों में विश्लेषित किया जा सकता है—

1. जीवन के मुख्य अंग।
2. उनके विकास के साधन।
3. उनके निष्कर्षों का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उपयोग।

1. जीवन के मुख्य अंग—इसका तात्पर्य है कि वे अंग या तत्त्व, जिनसे जीवन बना है। जीवन को टिकाने वाले मूल तत्त्व सात हैं—शरीर, श्वास, प्राण, मन, भाव, कर्म, चित्त-चेतना। इनका जीवन विज्ञान में विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है।

2. उनके सम्यक् विकास के साधन—यहाँ साधन से तात्पर्य है—वे साधन या प्रयोग-प्रविधि, जिनके द्वारा जीवन के मुख्य अंगों पर प्रयोग किया जाता है। साधन एवं प्रयोग प्रविधि के अन्तर्गत मुख्य रूप से अनेकान्त, अहिंसा, अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान पद्धति का समावेश है।

3. जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इनके उपयोग का अध्ययन—हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्र हैं—शिक्षा-क्षेत्र, प्रशासनिक-क्षेत्र, औद्योगिक-क्षेत्र, व्यक्तित्व निर्माण-क्षेत्र, शारीरिक चिकित्सा, मानसिक चिकित्सा, भावात्मक परिष्कार आदि। इन क्षेत्रों से संबंधित समस्याओं के समाधान में जीवन विज्ञान की संभावनाओं का अध्ययन करना। जीवन विज्ञान के निष्कर्षों एवं प्रयोगों के उपयोग द्वारा इन क्षेत्रों में योगदान, अनुसंधान एवं उनके मूल्यांकन द्वारा अध्ययन करना।

जीवन विज्ञान के निष्कर्षों एवं प्रयोगों का सबसे पहले व्यवस्थित उपयोग शिक्षा जगत् में किया गया है। शिक्षा जगत् की समस्याओं के समाधान में पूरा प्रारूप तैयार किया गया है। प्राथमिक स्तर से स्नातकोत्तर स्तर तक के लिए पाठ्य- पुस्तकें तैयार की गई हैं। अनेक विद्यालयों और महाविद्यालयों में इनका अध्ययन और अध्यापन कार्य हो रहा है।

जीवन विज्ञान का अध्ययन शिक्षा जगत् की कमी को पूरा करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वर्तमान शिक्षा में जो पक्ष गौण हैं, उसको यह पुष्ट करता है। यह मूल्यपरक शिक्षा, आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा को प्रस्तुत करता है। वर्तमान शिक्षा जगत् को चारित्रिक और नैतिक समस्याओं से उबारने का भी यह एक सशक्त साधन है। इसके अध्ययन व अध्यापन से संतुलित जीवन, सर्वांगीण व्यक्तित्व और स्वस्थ समाज एवं राष्ट्र की संरचना में सहयोग मिलता है।

13.3 जीवन विज्ञान : लक्ष्य एवं उद्देश्य

शिक्षा जगत् में अनेक विद्या शाखाएँ हैं। जब-जब नए-नए प्रश्न, जिज्ञासाएँ एवं समस्याएँ उभरती हैं, उसी संदर्भ में नई-नई विद्या शाखाएँ जन्म लेती हैं। प्रत्येक नई विद्या शाखा का समाधानों के समाधान में एक निश्चित दृष्टिकोण रहता है। उसका अपना परिप्रेक्ष्य रहता है। उसके अध्ययन के लक्ष्य व उद्देश्य रहते हैं। अपने लक्ष्य एवं दृष्टिकोण से अध्ययन और अनुसंधान होने पर उसका विकास क्रम आगे से आगे बढ़ता है। कालान्तर में समस्या के समाधान में वह विद्या शाखा एक नई दृष्टि प्रदान करती है, जिससे व्यक्ति और समाज लाभान्वित होते हैं।

‘जीवन विज्ञान’ शिक्षा क्षेत्र में एक नयी विद्या शाखा के रूप में उभर रही है। इसके सामने अनेक प्रश्न एवं जिज्ञासाएँ हैं। उनका समाधान प्रयोग एवं प्रशिक्षण द्वारा खोजा जाता है। ‘जीवन विज्ञान’ के सामने ज्वलन्त प्रश्न यह है कि किस प्रकार जीवन में मानवीय मूल्यों का विकास हो और कैसे जीवन को स्वस्थ एवं संतुलित बनाया जा सके? जीवन का परिष्कार कैसे हो? जीवन का समग्र विकास कैसे हो? किस प्रकार व्यक्ति सफल और संतुष्ट जीवन जी सके? इनका समाधान अनेकान्त दृष्टि, अहिंसात्मक सदाचार, अणुव्रत की न्यूनतम आचार संहिता, प्रेक्षाध्यान पद्धति के प्रयोगों एवं उनके वैज्ञानिक अध्ययन व अनुसंधान द्वारा खोजा जाता है।

जीवन विज्ञान का लक्ष्य

जीवन विज्ञान के निम्नलिखित लक्ष्य हैं—

1. जीवन के परिष्कार द्वारा आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण करना।
2. जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं चैतसिक प्रक्रियाओं पर योग एवं प्रेक्षाध्यान की प्रक्रियाओं के प्रभावों का वैज्ञानिक अध्ययन करना।
3. जीवन के उन नियमों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन एवं अन्वेषण करना, जिससे जीवन के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष का परिष्कार होता है।
4. स्वस्थ समाज की संरचना के लिये ऐसे व्यक्तित्व (प्रशिक्षक) का निर्माण करना, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों हेतु स्वस्थ जीवन की प्रायोगिक और अभ्यासात्मक प्रक्रियाओं को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर सके। इसके माध्यम से वह समग्र व्यक्तित्व एवं स्वस्थ समाज के निर्माण में सहभागी बन सके।

जीवन विज्ञान का उद्देश्य

उपरोक्त प्रक्रियाओं से जीवन विज्ञान अनेक उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहता है—

1. बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन करना।
2. संवेग और विवेक में सामंजस्य स्थापित करना।
3. सामाजिकता और वैयक्तिकता में सामंजस्य स्थापित करना।
4. मानवीय संबंधों में परिवर्तन करना।

5. नैतिक मूल्यों का विकास करना।
6. आत्मानुशासन की क्षमता का विकास करना।
7. मानवीय समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता का विकास करना।
8. पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ अच्छे ढंग से जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण देना।
9. संवेग नियंत्रण की पद्धति सिखाना।
10. सामाजिक व्यवहार को निश्चल एवं मैत्रीपूर्ण बनाना।
11. मादक वस्तुओं के सेवन से मुक्ति दिलाना।
12. जीवन की समस्याओं के समाधान की खोज एवं स्वस्थ जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करना।
13. स्वयं की शक्तियों से परिचय कराना एवं उपयोग करने में दक्ष बनाना।

13.4 जीवन विज्ञान : प्रकृति

प्रकृति का अर्थ है—'वस्तु का स्वरूप'। जीवन विज्ञान की प्रकृति का अर्थ है—जीवन विज्ञान क्या है? उसका स्वरूप क्या है? आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीवन विज्ञान के स्वरूप को जानने के लिए हम निम्नलिखित बिन्दुओं का उपयोग कर सकते हैं—

1. नई विद्या शाखा

शिक्षा जगत् में विद्या की अनेक शाखाएं हैं। प्रायः शाखाओं का उद्देश्य ज्ञान प्रदान करना तथा मानव मात्र की बौद्धिक क्षमता का विकास कर अर्थोपार्जन के योग्य बनाना ही रहा है परन्तु जीवन विज्ञान एक नई विद्या शाखा है। इसका मूल लक्ष्य विद्यार्थी को जीविकोपार्जन के साथ जीने की कला सिखाना है। जीवन को सिद्धान्तों के साथ प्रयोगों से आप्लावित कर उसे जीने का एक नया मार्ग दिखाना है। यह एक ऐसी विद्या शाखा है जिसका प्रयोग चेतना के जागरण के लिए किया जाता है। नैतिक एवं चारित्रिक विकास केवल उपदेशों से सम्भव नहीं है। इसके लिए आवश्यक है चेतना का रूपान्तरण, हृदय-परिवर्तन हो। हृदय परिवर्तन के लिए आवश्यक है अपने आपको जानना, स्वयं को पहचानना। यह स्वयं को पहचानने तथा आत्मा के निकट ले जाने वाली नवीन विद्याशाखा है।

2. समन्वित शिक्षा पद्धति

जीवन विज्ञान एक संतुलित एवं परिपूर्ण विद्या शाखा है। संतुलित इसलिए है कि इसमें शारीरिक और बौद्धिक विकास के साथ-साथ मानसिक और भावनात्मक विकास का संतुलन स्थापित किया गया है। परिपूर्ण इसलिए है कि इसमें सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ प्रायोगिक अभ्यास भी अनिवार्य है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में "जीवन विज्ञान समन्वित शिक्षा पद्धति का नाम है। इसमें अहिंसा की शिक्षा, नैतिक शिक्षा और आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा—तीनों का समन्वय है। इसे शिक्षा के क्षेत्र में 'अणुव्रत' और 'प्रेक्षाध्यान' के समन्वय से विकसित किया गया है।"

3. नियमों की खोज

विज्ञान का अर्थ है—नियमों की खोज। भौतिक विज्ञान में भौतिक पदार्थों के अध्ययन द्वारा नियमों की खोज की जाती है। रसायन विज्ञान में रासायनिक पदार्थों के अध्ययन द्वारा नियमों की खोज की जाती है। इसी प्रकार 'जीवन विज्ञान' में जीवन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन द्वारा नियमों की खोज की जाती है, जिससे उसके उपयोग द्वारा जीवन के सभी पक्षों का विकास किया जा सके।

जीवन के मुख्य तीन पक्ष हैं—ज्ञानात्मक पक्ष, भावात्मक पक्ष एवं क्रियात्मक पक्ष। इस सन्दर्भ में जीवन विज्ञान के मुख्य तीन लक्ष्य हैं—

1. जीवन के उन नियमों की खोज, जिनसे इन तीनों पक्षों का परिष्कार किया जा सके।

2. जीवन के उन नियमों की खोज, जिनसे भावात्मक विकास और बौद्धिक विकास में संतुलन स्थापित किया जा सके।

3. जीवन के उन नियमों की खोज, जिनसे प्रज्ञा को, अन्तःकरण को, शुद्ध चेतना को जगाया जा सके। अवचेतन मन को परिष्कृत किया जा सके।

4. प्रयोगात्मक विज्ञान

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीवन विज्ञान के मुख्य अंग सात हैं—शरीर, श्वास, प्राण, मन, भाव, कर्म, चित्त। इन सातों अंगों की समष्टि का नाम जीवन है। स्वस्थ जीवन जीने के लिये इन सातों अंगों के विकास पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। जीवन विज्ञान में इन सातों अंगों पर 'प्रेक्षाध्यान' के प्रयोग निर्धारित किये गये हैं। इन अंगों का प्रेक्षाध्यान के साथ क्या सम्बन्ध हैं इस पर स्पष्ट रूप से वैज्ञानिक विवेचन है। अतः जीवन विज्ञान एक नई विद्या शाखा, समन्वित शिक्षा पद्धति, नियमों की खोज के साथ-साथ एक विशिष्ट प्रयोगात्मक विज्ञान है।

13.5 सारांश

इस प्रकार प्राचीन समय में गुरुकुल परम्परा में जीवन-मूल्यों की शिक्षा गुरु के जीवन से ही मिलती रहती थी। समय के साथ शिक्षा का स्वरूप बदला और शिक्षा के क्षेत्र में जीवन-विज्ञान की कल्पना सामने आई, जो जीने का विज्ञान है। सर्वांगीण विकास का माध्यम है।

13.6 बोध-प्रश्न

1. जीवन विज्ञान क्या है?
2. जीवन विज्ञान नामकरण कब हुआ?
3. जीवन विज्ञान की प्रविधि क्या है?

इकाई-14 : जीवन विज्ञान : एक संतुलित शिक्षा-प्रणाली

संरचना

- 14.1 संतुलित शिक्षा प्रणाली
- 14.2 सर्वांगीण विकास
- 14.3 प्राणधारा का संतुलन
- 14.4 जैविक संतुलन
- 14.5 क्षमता की आस्था का जागरण
- 14.6 परिष्कार
- 14.7 सारांश
- 14.8 बोध-प्रश्न

14.1 जीवन विज्ञान : संतुलित शिक्षा प्रणाली

वर्तमान युग में शिक्षा का महत्त्व बढ़ता जा रहा है, क्योंकि विकास का मुख्य आधार है—शिक्षा। व्यक्ति विकास के नये-नये आयाम छूना चाहता है। विकास के मुख्य चार आयाम—शारीरिक विकास, बौद्धिक विकास, मानसिक विकास और भावनात्मक विकास को प्राप्त करना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा ही सहायक हो सकती है। शिक्षा के द्वारा ही विकास के इन आयामों को प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान शिक्षा

पद्धति इस ओर अग्रसर है, फिर भी आज शिक्षा के क्षेत्र में शारीरिक और बौद्धिक—इन दो आयामों पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है और दूसरे दो आयाम—मानसिक विकास और भावनात्मक विकास उपेक्षित हैं, कहना असंगत न होगा।

14.2 सर्वांगीण विकास

जीवन विज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है। इसमें विकास के चारों आयाम पर ध्यान दिया गया है—

1. शारीरिक विकास

शारीरिक विकास शरीर से संबंधित है। शरीरक्रिया विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर में दस तंत्र हैं—पाचन तंत्र, श्वसन तंत्र, उत्सर्जन तंत्र, अस्थि तंत्र, नाड़ी तंत्र, ग्रंथि तंत्र, प्रजनन तंत्र, त्वचा तंत्र, मांसपेशी तंत्र, रक्त-परिसंचरण तंत्र आदि। इन तंत्रों का योग है—शरीर। यदि इनमें किसी प्रकार का विकार पैदा हो जाए अथवा ये सम्यक् रूप से कार्य न करें तो शरीर का समुचित विकास नहीं माना जाता। इनकी सम्यक् क्रियान्विति ही शारीरिक विकास है।

2. बौद्धिक विकास

हमारे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकोष्ठ हैं। स्मृति, बुद्धि, चिन्तन सबके अलग-अलग प्रकोष्ठ हैं। हमारा बौद्धिक विकास बुद्धि के प्रकोष्ठों से संबंधित है। जितना-जितना इन प्रकोष्ठों की कार्य करने की क्षमता का विकास होता है, उतना ही बौद्धिक विकास माना जाता है।

3. मानसिक विकास

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को वर्तमान काल में ही ग्रहण कर पाती हैं किन्तु मन इन्द्रियों द्वारा गृहीत सभी विषयों और तीनों कालों को ग्रहण कर चिन्तन करने वाला होता है। अतः मन को परिभाषित करते हुए कहा गया—‘सर्वार्थग्राही त्रैकालिकं मन’। मन के तीन कार्य हैं—स्मृति, चिन्तन, कल्पना। ये तीनों सकारात्मक भी हो सकते हैं और नकारात्मक भी हो सकते हैं। सम्यक् स्मृति, सम्यक् चिन्तन, सम्यक् कल्पना मानसिक विकास को प्रकट करते हैं, गलत स्मृति, गलत चिन्तन और गलत कल्पना अविकसित मानसिकता के लक्षण हैं।

4. भावनात्मक विकास

संवेग एक जटिल भावनात्मक प्रक्रिया है। संवेग की ही पूर्व अवस्था भाव है। भावों में उफान के पश्चात् संवेग की अवस्था बनती है। भाव व्यक्ति के भीतर में विद्यमान होते हैं। निमित्त पाकर बाहर प्रकट होते हैं। भाव भी सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार के होते हैं—सहिष्णुता, विनम्रता, प्रेम, वात्सल्य, सहानुभूति ये सब सकारात्मक भाव हैं। घृणा, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, शंका आदि नकारात्मक भाव हैं। इन नकारात्मक भावों का प्रबल होना भावात्मक ह्रास है। सकारात्मक भावों में वृद्धि होना भावात्मक विकास का लक्षण है।

संतुलित शिक्षा प्रणाली का तात्पर्य एक ऐसी शिक्षा प्रणाली से है जो इन सभी आयामों पर ध्यान दे। जो सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्नशील हो। शिक्षा के क्षेत्र में जीवन विज्ञान इसी ओर उठाया गया एक कदम है। यह संतुलित व्यक्तित्व विकास के लिए चारों तथ्यों पर ध्यान देता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि जीवन विज्ञान शिक्षा का नया आयाम है। यह विकास के चारों आयामों पर ध्यान देता है। इन चारों आयामों के विकास हेतु जीवन विज्ञान अपने विषय-वस्तु के माध्यम से निम्न चार तथ्यों के संतुलन पर बल देता है। जिसका विवेचन आचार्य महाप्रज्ञ ने इस प्रकार किया है—

14.3 प्राणधारा का संतुलन

मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए प्राणधारा का विकास और उसका संतुलन आवश्यक है। कुण्डलिनी योग के अनुसार हमारे शरीर में 72000 या इससे भी कहीं अधिक नाड़ियाँ हैं, जिनसे प्राण, जीवनी

शक्ति, प्रेरणाएँ तथा अन्यान्य ऊर्जाएँ विद्युत तरंगों के समान बहती हैं तथा शरीर के विभिन्न कोशों और अंगों के स्वास्थ्य तथा तालबद्धता को सही सलामत रखती हैं। इन 72000 नाड़ियों में भी तीन नाड़ियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। ये तीन नाड़ियाँ ईडा, पिंगला और सुषुम्ना कहलाती हैं। पिंगला को सूर्य नाड़ी तथा ईडा को चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं। ईडा और पिंगला ये दोनों प्राचीन योगशास्त्रीय नाम हैं। आज की शरीरशास्त्रीय भाषा में इनकी तुलना पेरसिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम और सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम से की जाती है। जब प्राण का एक प्रवाह अधिक सक्रिय होता है, तब उद्दण्डता और उच्छृंखलता पनपती है, हिंसक और तोड़फोड़ की वृत्ति बढ़ती है। यह सारा कार्य दायीं प्राणधारा की सक्रियता का परिणाम है। यदि प्राणधारा का बायां प्रवाह सक्रिय होता है तो व्यक्ति में हीनभावना का विकास होता है, भय की वृत्ति विकसित होती है, दुर्बलता आती है अतः दोनों में संतुलन अपेक्षित है। जब दोनों में संतुलन सधता है तब संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। तब न हीनभावना पनपती है, न उद्दण्डता बढ़ती है। न अनुशासनहीनता आती है और न भय की वृत्ति विकसित होती है। जीवन विज्ञान इन दोनों प्राणधारा के सन्तुलन का प्रयास करता है।

14.4 जैविक संतुलन

मेडिकल साइन्स में मस्तिष्कीय खोजों द्वारा यह प्रस्थापित किया गया है कि आदमी के मस्तिष्क का बायां हिस्सा (left hemisphere) स्कूलीय अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी है। तर्क, गणित और भाषा का जितना कार्य है, यह सारा बाएं हिस्से का कार्य है। आज मस्तिष्क पर और उसकी कार्य-प्रणाली पर प्रतिवर्ष अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। उनमें अनेक रहस्योद्घाटन हो रहे हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मस्तिष्क की रचना और उसकी कार्य-प्रणाली की पूरी जानकारी हो गई है। बहुत अल्प जानकारी हुई है। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि मस्तिष्क का बायां हिस्सा बौद्धिक विकास के लिए उत्तरदायी है। अध्यात्म, अन्तश्चेतना का विकास, आन्तरिक वृत्तियों का विकास यह सब दायें मस्तिष्क का काम है। दायें मस्तिष्क ही इनके विकास और ह्रास के लिए उत्तरदायी है। आज बायां हिस्सा अधिक सक्रिय हो गया है। दायें हिस्सा सोया रह गया है। सन्तुलित व्यक्तित्व विकास के लिए मस्तिष्क के दोनों हिस्सों का सन्तुलन जरूरी है। जीवन विज्ञान इस असंतुलन को दूर करने का प्रयास करता है।

14.5 क्षमता की आस्था का जागरण

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में अनन्त ज्ञान होता है, अनन्त शक्ति होती है। यह प्राचीन दर्शन की भाषा है। आज का विज्ञान भी इसी भाषा में बोलने लग गया है। अभी कुछ वर्ष पूर्व सुपर लर्निंग की प्रणाली विकसित हुई। डॉ. लॉपनोव ने इस प्रणाली को जन्म दिया। उसका यह सिद्धान्त है कि हमारे मस्तिष्क में सीखने की अनन्त क्षमता है। उसको विकसित किया जा सकता है। उसने उसके प्रयोग किए। जो बच्चा पांच-दस शब्द याद करने में हिचकिचाता था, उसको इस प्रणाली से हजारों शब्द याद करा दिये गए। इस प्रकार विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है कि हमारे मस्तिष्क में अनन्त क्षमताएं हैं परन्तु आदमी उन क्षमताओं का पांच-सात प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। यदि वह उसका दस प्रतिशत उपयोग करने लग जाये तो वह महान् व्यक्ति बन सकता है। जो व्यक्ति उस क्षमता का उपयोग नहीं कर पाता, उसकी सारी क्षमताएं सोयी रह जाती हैं।

जीवन विज्ञान का कार्य विद्यार्थियों में इस आस्था को जागृत करना है कि उनके भीतर अनन्त क्षमताएं हैं और वे उसका उपयोग कर सकते हैं, उनसे लाभ उठा सकते हैं।

14.6 परिष्कार

जीवन विज्ञान का चौथा अर्थ है—परिष्कार। यह परिष्कार तीन आयामों में होता है—दृष्टिकोण का परिष्कार, व्यवहार का परिष्कार और भावना का परिष्कार। मिथ्यादृष्टिकोण, मिथ्याव्यवहार और मिथ्याभावना—ये तीनों मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं। किसी भी राष्ट्र के उत्थान और पतन का इतिहास पढ़ें, किसी भी समाज और व्यक्ति के उत्थान और पतन की कहानी पढ़ें, उसकी गहराई में उपरोक्त तीन बातें मिलेंगी। उत्थान के भी तीन

कारण हैं—सम्यग् दृष्टिकोण, सम्यग् व्यवहार और सम्यग् भाव। जीवन विज्ञान विद्यार्थी का परिष्कार चाहता है। वह चाहता है कि उसकी दृष्टि बदले, व्यवहार बदले और भावना बदले। वैज्ञानिक खोजों के अनुसार इन सब पर हाइपोथेलेमस और ग्रंथि तंत्र का नियन्त्रण है। जीवन विज्ञान ग्रंथि तंत्र के स्रावों का परिष्कार कर दृष्टि, व्यवहार और भाव का परिष्कार करना चाहता है। इसीलिए आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीवन विज्ञान एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है, जिसमें जीवन को संतुलित बनाने के विविध उपाय निर्दिष्ट हैं।

14.7 सारांश

इस प्रकार जीवन विज्ञान शिक्षा की एक संतुलित प्रणाली है, जिसमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक विकास पर ध्यान दिया जाता है। प्राणधारा का संतुलन, जैविक परिवर्तन, क्षमता की आस्था का जागरण तथा परिष्कार के द्वारा जीवन में संतुलन साधा जाता है।

14.8 बोध प्रश्न

1. मन किसे कहते हैं?
2. संतुलित शिक्षा प्रणाली से क्या तात्पर्य है?
3. जीवन के मुख्य तीन पक्ष कौन-से हैं?

इकाई-15 : जीवन विज्ञान के सात अंग

संरचना

- 15.1 जीवन क्या है
- 15.2 शरीर
- 15.3 श्वास
- 15.4 प्राण
- 15.5 मन
- 15.6 भाव
- 15.7 कर्म
- 15.8 चित्त
- 15.9 सारांश
- 15.10 बोध-प्रश्न

15.1 जीवन क्या है?

जीवन क्या है? यह सबसे पहला और सबसे बड़ा प्रश्न है। पहला इसलिए कि जीवन के होने पर सब कुछ होता है और जीवन के न होने पर कुछ भी नहीं होता। मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ जीवन के पीछे चलती हैं। जीवन की समाप्ति का अर्थ है—मानसिक, वाचिक, कायिक सभी प्रवृत्तियों की समाप्ति। बड़ा इसलिए कि जीवन के अस्तित्वकाल में जिन वस्तुओं का मूल्य होता है, जीवन की समाप्ति के साथ वे वस्तुएँ उसके लिए मूल्यहीन हो जाती हैं। जीवन विज्ञान में समग्र जीवन का विश्लेषण किया गया और जीवन की व्याख्या के सात सूत्र दिये गए। इन सात अंगों का समुच्चय ही हमारा जीवन है। जीवन के सात अंग हैं—1. शरीर, 2. श्वास, 3. प्राण, 4. मन, 5. भाव/आभामंडल/लेश्या, 6. कर्म, 7. चित्त-चेतना। इन सात अंगों की समष्टि का नाम है—जीवन। किसी

एक कोण से होने वाली जीवन की परिभाषा पूर्ण नहीं हो सकती। जीवन की समग्र परिभाषा एवं विकास के लिए इन सातों बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है। ये अंग साधक भी बनते हैं, बाधक भी बनते हैं। जीवन के विकास के हेतु भी बनते हैं और अवरोधक भी बनते हैं। यदि इन्हें शिक्षित कर लिया जाता है तो यह साधक बन सकते हैं। अशिक्षित रहते हैं तो बाधक भी बन जाते हैं। अतः 'जीवन विज्ञान' में इन सातों अंगों पर विचार और 'प्रेक्षाध्यान' के प्रयोग किए गए हैं।

15.2 शरीर (Body)

जीवन का पहला घटक तत्त्व है—शरीर। शरीर को परिभाषित करते हुए कहा गया—'सुखदुखानुभव साधनं शरीरम्' अर्थात् सुख और दुख के अनुभव के साधन को शरीर कहते हैं। जैन दर्शन में शरीर के पांच प्रकार माने गए हैं—

1. औदारिक शरीर—हाड, मांस, मज्जा आदि सप्त धातुओं से निर्मित शरीर।
2. वैक्रिय शरीर—नाना रूप बनाने में समर्थ शरीर।
3. आहारक शरीर—विचार संवाहक संप्रेषक शरीर।
4. तैजस शरीर—तापमय या विद्युत शरीर।
5. कार्मण शरीर—कर्ममय शरीर।

अच्छा जीवन जीने के लिए शरीर को समझना तथा उसे स्वस्थ रखना बहुत आवश्यक है। शरीर के दस तंत्र हैं—

- | | |
|---|--|
| 1. अस्थि तंत्र (Skeletal System) | 2. मांसपेशीय तंत्र (Muscular System) |
| 3. त्वचा तंत्र | 4. पाचन तंत्र (Digestive System) |
| 5. रक्त परिसंचरण तंत्र (Blood Circulatory System) | 6. श्वसन तंत्र (Respiratory System) |
| 7. उत्सर्जन तंत्र (Excretory System) | 8. तंत्रिका तंत्र (Nervous System) |
| 9. अन्तःस्रावी ग्रंथि तंत्र (Endocrine System) | 10. प्रजनन तंत्र (Reproductive System) |

ये सारे तंत्र एक साथ संगठित होकर मानव शरीर की रचना करते हैं। इन तंत्रों को प्रशिक्षित किया जा सकता है। इनका सम्बन्ध केवल शारीरिक क्रिया से ही नहीं है, मानवीय व्यवहार से भी गहरा सम्बन्ध है। हिंसा, साम्प्रदायिकता, उत्तेजना, शांति और कलह, सौहार्द और वैमनस्य—इन सबके लिए केवल मन और भाव ही उत्तरदायी नहीं हैं अपितु शरीर भी उत्तरदायी है।

हमारा शरीर बहुत रहस्यमय है। शरीर के विषय में आज मेडिकल साइंस ने बहुत खोज की है किन्तु जो खोजा गया है, वह एक बिन्दु जितना है। हमारा ज्ञान का जगत् बहुत छोटा-सा है। अज्ञान एक महासागर है। मनुष्य अपने मस्तिष्क और इन्द्रियों से बहुत खोज करता है किन्तु सत्य अनंत है। उसके कुछेक पर्याय (अवस्थाएँ) ही सामने आ पाते हैं। एक चिकित्सक चिकित्सा की दृष्टि से शरीर को समझता है। वह नाडीतंत्र और ग्रंथितंत्र दोनों को समझने का प्रयत्न करता है किन्तु जीवन विज्ञान के संदर्भ में शरीर को पढ़ना होता है तो पढ़ने का दृष्टिकोण बदल जाता है। हमारे शरीर में कुछ ऐसे केन्द्र हैं, जहाँ चेतना सघन रूप से केन्द्रित है। 'प्रेक्षाध्यान' की भाषा में उन्हें 'चैतन्य केन्द्र' कहा जाता है। उन पर ध्यान के प्रयोग कराये जाते हैं। यदि आध्यात्मिक शक्ति को जानना है तो दर्शन केन्द्र पर ध्यान का प्रयोग करना होता है। संतुलित, अनुशासित और आत्म-नियंत्रित होना है तो विशुद्धि केन्द्र पर ध्यान करना होता है। नशामुक्ति के लिए अप्रमाद केन्द्र पर ध्यान करते हैं।

प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में शरीर को पढ़ने से यह भी समझ में आता है कि भावात्मक परिवर्तन के केन्द्र शरीर में कहाँ-कहाँ हैं? उन केन्द्रों पर ध्यान के ऐसे प्रयोग कराए जाते हैं, जिनसे एकाग्रता बढ़ती है, भावात्मक समस्याएँ समाहित होती हैं। शरीर स्वस्थ बनता है।

शारीरिक प्रशिक्षण के साधन हैं—

- ◆ आसन, यौगिक क्रियाएँ
- ◆ कायोत्सर्ग
- ◆ अनुप्रेक्षा-सुझाव और संकल्प का प्रयोग।
- ◆ तपस्या
- ◆ शरीरप्रेक्षा

15.3 श्वास (Breath)

जीवन का दूसरा घटक तत्त्व है—श्वास। श्वास हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन और भाव—इन सबको प्रभावित करता है। श्वास और जीवन दोनों पर्यायवाची हैं। जब तक श्वास तब तक जीवन और जब तक जीवन तब तक श्वास—यह कहा जा सकता है। प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। ऑक्सीजन की प्राप्ति वातावरण से होती है। ऑक्सीजन के अंतर्ग्रहण का कार्य श्वसनतंत्र करता है। श्वसन क्रिया के द्वारा शरीर की प्रत्येक कोशिका ऑक्सीजन की संपूर्ति (Supply) करती है तथा ऑक्सीजन उत्पादनों (Products of Oxidation) से मुक्ति पाती है।

श्वसन क्रिया में श्वास नाक से आता है और मुँह बंद रखा जाता है। ऐसा करने से हवा में रहे कीटाणु रजकण तथा अन्य प्रदूषण नासिकाओं के भीतर रही हुई श्लेष्मा झिल्ली की स्थिरता के कारण तथा नाक में स्थित बालों के कारण वही रोक दिए जाते हैं।

श्वसन क्रिया में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्वास लेते समय पेट को फुलाना चाहिए तथा श्वास छोड़ते समय पेट को सिकोड़ना चाहिए। सम्यक् श्वास से ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने से शरीर भी स्वस्थ रहता है। आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं—श्वास का केवल शारीरिक मूल्य ही नहीं अपितु आध्यात्मिक मूल्य भी है। चेतना को शरीर में अभिव्यक्त करने का माध्यम श्वास है। यह एक ऐसा सेतु है, जिसके द्वारा नाड़ी संस्थान, मन और प्राणशक्ति तक पहुँचा जा सकता है। श्वासप्रेक्षा के द्वारा चेतना का ऊर्ध्वरोहण, अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति एवं सतत जागरण (अप्रमाद) की अवस्था प्राप्त होती है।

श्वास प्रशिक्षण के साधन हैं—

1. प्राणायाम
2. लयबद्ध श्वास
3. दीर्घश्वास प्रेक्षा
4. कायोत्सर्ग।

15.4 प्राण (Vital Energy)

जीवन का तीसरा घटक तत्त्व है—प्राण। यह अस्तित्व का मूलाधार है। प्राण को परिभाषित करते हुए कहा गया—**जीवनीशक्ति प्राणः**। प्राण जीवनी शक्ति है, सम्पूर्ण शरीर को चलाने वाली ऊर्जा है। इसके संयोग से जीव जीवन को प्राप्त होता है तथा वियोग से मृत्यु को प्राप्त होता है। प्राणशक्ति का मूल स्रोत है—तैजस शरीर। तैजस के परमाणु आकाश मंडल में व्याप्त हैं। जब उन परमाणुओं का आकर्षण अधिक मात्रा में होता है तो तैजस शरीर पुष्ट होता है और कम मात्रा में होता है तो तैजस शरीर क्षीण होता है।

प्राण के प्रकार—प्राण सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच का संबंध सूत्र है। यह स्थूल शरीर को सूक्ष्म शरीर से जोड़ता है। पूरे शरीर में एक ही प्राणशक्ति है, उसे विभाजित नहीं किया जा सकता किन्तु सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करती हुई यह प्राणशक्ति अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग कार्य करती है, जिसके आधार पर उसके अनेक प्रकार हो जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार प्राण के दस प्रकार हैं—1. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, 2. चक्षुरिन्द्रिय प्राण, 3. घ्राणेन्द्रिय प्राण, 4. रसनेन्द्रिय प्राण, 5. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, 6. मनोबल प्राण, 7. वचनबल प्राण, 8. कायबल प्राण, 9. श्वासोच्छ्वास प्राण, 10. आयुष्य प्राण।

प्राणशक्ति के महत्त्व को बताते हुए आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं—प्राणशक्ति के बिना चेतना का उपयोग नहीं हो सकता, चैतन्य केन्द्रों को सक्रिय नहीं किया जा सकता।

प्राण हमारी जीवनीशक्ति का मुख्य स्रोत है। शरीर प्राण से संचालित है। श्वास प्राण से संचालित है। मन और वाणी भी मनोबल और वचनबल प्राण से संचालित हैं। प्राण का संतुलन पूरे जीवन को व्यवस्थित करता है। उसका असंतुलन होने पर शारीरिक स्वास्थ्य गड़बड़ा जाता है, पूरी जीवन प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाती है। 'प्रेक्षाध्यान पद्धति' में प्राण को संतुलित रखने के साधन हैं—

1. समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा
2. शरीरप्रेक्षा
3. तैजस्केन्द्र प्रेक्षा
4. विशुद्धिकेन्द्र प्रेक्षा।

इनके अतिरिक्त उपवास, संकल्प शक्ति, आसन, प्राणायाम, सूर्य की आतापना आदि भी प्राण-संवर्धन के उपाय हैं।

15.5 मन (Mind)

जीवन का चौथा घटक तत्त्व है-मन। मन का एक विशाल साम्राज्य है। योग का प्रसिद्ध सूक्त है—यत्र पवनस्तत्र मनः अर्थात् जहाँ पवन है, वहाँ मन है। मन को परिभाषित करते हुए लिखा गया—इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिक संज्ञानं मनः अर्थात् मन ज्ञान का एक स्तर है। उसकी व्याख्या तीन विशेषणों से की जाती है—

1. इन्द्रिय सापेक्ष—मन इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों में प्रवृत्त होता है, अतः इन्द्रिय सापेक्ष है।
2. सर्वार्थग्राहि—मन शब्द, रूप, रस आदि सब विषयों को जानता है, अतः सर्वार्थग्राही है।
3. त्रैकालिक—मन भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालों को जानता है अतः त्रैकालिक है।

स्मृति, कल्पना और चिन्तन मन के कार्य हैं। मन की क्रिया का संचालन मस्तिष्क के द्वारा होता है। इसलिए यह यांत्रिक क्रिया है। यदि किसी का मस्तिष्क खराब हो जाए तो मन की क्रिया नहीं हो सकती।

मन की अधिक चंचलता, अधिक समस्याएँ उत्पन्न करती है। मन की एकाग्रता अनेक समस्याओं का समाधान है। प्रेक्षाध्यान में मन की एकाग्रता के लिए अनेक प्रयोग कराए जाते हैं। स्मृति, कल्पना और चिन्तन—तीनों मन के कार्य हैं। तीनों ही जीवन के लिए आवश्यक हैं। किन्तु व्यक्ति जब अनावश्यक स्मृति, कल्पना और चिन्तन करने लग जाता है, तब मानसिक तनाव बढ़ता है। एकाग्रता की साधना होने पर उनका अनावश्यक प्रयोग समाप्त हो जाता है।

मन की दो अवस्थाएँ हैं—चंचलता और एकाग्रता। चंचल मन असफलता के लिए उत्तरदायी है और एकाग्र मन सफलता का महाद्वार है। एकाग्रता के साधन हैं—

1. दीर्घ श्वासप्रेक्षा-लयबद्ध दीर्घश्वास
2. विधियुक्त श्वास-संयम (कुंभक)
3. प्राणकेन्द्र प्रेक्षा
4. दर्शनकेन्द्र प्रेक्षा
5. अनिमेष प्रेक्षा
6. विचार प्रेक्षा
7. अनुप्रेक्षा।

इसके अतिरिक्त मन की शुद्धि के लिए दृढ़ संकल्प, एकाग्र दृष्टि, विकल्पों की उपेक्षा, इष्ट-ध्यान आदि उपाय भी बताए गए हैं।

15.6 भाव (Emotion)

जीवन का पांचवां घटक तत्त्व है—भाव (संवेग)। शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वास—ये सब पौद्गलिक हैं। भाव चेतना से जुड़ा होने के कारण चैतसिक है। मन का संचालक भाव है। मन अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं होता। जैसा भाव होता है, वैसा मन हो जाता है। अच्छा भाव अच्छा मन और बुरा भाव बुरा मन। भाव को परिभाषित करते हुए कहा गया—कर्म के उदय, उपशमन, क्षय और क्षयोपशम से होने वाला जीव का स्पन्दन भाव है।

भाव का स्रोत

भावों के बीज हमारे स्थूल शरीर में नहीं हैं। वे हमारे सूक्ष्मतम शरीर (कार्मण शरीर) में हैं। वहाँ से छनकर वे स्थूल शरीर में आते हैं और शरीर, मन तथा वाणी को प्रभावित करते हैं। भाव निर्माण की प्रक्रिया बताते हुए आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं—आत्मा के चारों ओर कषाय तंत्र का वलय है। आत्मा के स्पंदन जब कषाय तंत्र को पार कर बाहर आते हैं तो अध्यवसाय तंत्र का निर्माण होता है। अध्यवसाय तंत्र के स्पंदन जब आगे बढ़कर तैजस शरीर के संपर्क में आते हैं तब उसकी अनेक रश्मियाँ फूटती हैं। उसकी एक धारा जो रंग के परमाणुओं के साथ जुड़कर भावों का निर्माण करती है, वह है हमारा लेश्यातंत्र या भावतंत्र। जितने भी अच्छे-बुरे भाव हैं, वे लेश्यातंत्र द्वारा निर्मित हैं। वे भाव ही निमित्त पाकर अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार चैतन्य तंत्र, कषाय तंत्र एवं अध्यवसाय तंत्र तक मात्र तरंगें हैं। वहाँ क्रोध की तरंग है, क्रोध का भाव नहीं है। तरंगों का सघन रूप भाव है और भावों का सघन रूप क्रिया है। जिसे हम संवेग कह सकते हैं। मनोविज्ञान में भाव और संवेग को एक ही माना गया है।

लेश्या और भाव

हमारे भावों को उत्पन्न करने का सशक्त तंत्र है—लेश्यातंत्र। छः प्रकार की लेश्याएँ मानी गयी हैं, जिनमें प्रथम तीन अप्रशस्त और अन्तिम तीन प्रशस्त लेश्याएँ हैं। लेश्या का सिद्धान्त भावों को समझने का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जब लेश्या अप्रशस्त बनती है तो भाव भी अशुभ बन जाते हैं और जब लेश्या प्रशस्त बनती है तो भाव भी शुभ बन जाते हैं। लेश्याएँ रंगीन होती हैं। रंग हमारे भावों को प्रभावित करते हैं। जब मन में कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओं के स्पंदन जागते हैं तो हमारे भीतर हिंसा, झूठ, चोरी, ईर्ष्या, शोक, घृणा और भय के भाव जागते हैं और जब तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या के स्पंदन जागते हैं तो भाव निर्मल बनते हैं। अभय, मैत्री, शान्ति, जितेन्द्रियता, क्षमा आदि पवित्र भावों का निर्माण होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में किस लेश्या की प्रधानता से कौन-सा भाव उत्पन्न होता है, इसका सुन्दर विश्लेषण किया गया है। आज शरीर के बारे में बहुत सोचा जा रहा है, मन के बारे में कम सोचा जा रहा है किन्तु भाव के विषय में बिल्कुल नहीं सोचा जा रहा है जबकि विचार का मुख्य पहलू होना चाहिए सबसे पहले भाव, फिर मन और फिर शरीर। जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व भाव है। जैसा भाव वैसा मन, जैसा मन वैसा शरीर। अतः भावों को समझना और उसका परिष्कार करना साधना का मूल आधार है। भावात्मक स्वास्थ्य या भाव-विशुद्धि के प्रयोग हैं—

1. लेश्याध्यान
2. प्रतिपक्ष भावना का अभ्यास
3. मैत्री की अनुप्रेक्षा
4. करुणा की अनुप्रेक्षा
5. सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा।

15.7 कर्म (Karma)

जीवन का छटा घटक तत्त्व है—कर्म। प्रायः सभी धर्म-दर्शनों में यह माना गया है कि जीवन में जो कुछ घटित होता है, वह आकस्मिक या अहेतुक नहीं होता। हर घटना के पीछे कोई हेतु होता है और वह है—कर्म। सभी यह मानते हैं—आत्मा ने जैसे कर्म किए हैं, उसी के अनुसार फल मिलता है। किये गये कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। इस सन्दर्भ में आचार्य महाप्रज्ञजी का मंतव्य है कि 'सब कुछ कर्म से ही घटित होता है' यह स्वीकृति उचित नहीं। कर्म का साम्राज्य तब तक ही चलता है, जब तक आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जागरूक नहीं होता। आत्मा का अपना स्वभाव है—चैतन्य, आनन्द और शक्ति। इनका विकास किसी भी कर्म के उदय से नहीं अपितु कर्म के विलय से होता है। कर्म में वह शक्ति नहीं कि वह आत्मा में ज्ञान, शक्ति और आनन्द की पर्यायों को उत्पन्न कर सके। आत्मा में वह शक्ति है कि वह अपने पर्यायों को उत्पन्न कर सकता है। आश्चर्य है शरीर की एक-एक कोशिका और जैविक रसायन की खोज करने वाले शरीरशास्त्री आत्मा की खोज में आगे नहीं बढ़े। आत्मा की खोज का पहला रूप है—कर्म की खोज। कर्म मानवीय पुरुषार्थ की प्रक्रिया

है। वर्तमान का पुरुषार्थ पुरुषार्थ कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ कर्म कहलाता है। मनुष्य के जीवन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में कर्म एक प्रमुख तत्त्व है। इस अन्तर्देश्य शक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर इसे सर्वोपरि भी नहीं माना जा सकता। इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। कर्म को परिवर्तित करने के सूत्र हैं—

- | | |
|------------------------------------|----------------|
| 1. निर्विचार अथवा निर्विकल्प ध्यान | 2. अपाय विचय |
| 3. विपाक विचय | 4. लेश्याध्यान |
| 5. चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा | 6. जप। |

15.8 चित्त (Psyche)

जीवन का सातवां घटक तत्त्व है—चित्त। साधारणतया चित्त और मन को एकार्थक माना जाता है। मनोविज्ञान में चित्त के अर्थ में मुख्यतया मन का ही प्रयोग किया गया है। चित्त और मन को व्यवहार में एक मानने से कोई कठिनाई नहीं आती किन्तु ध्यान-साधना के क्षणों में यह कठिनाई उभर कर सामने आती है क्योंकि निर्विकल्प ध्यान में मन विलीन हो जाता है, चित्त की वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं किन्तु चित्त विलीन नहीं होता अतः साधना के संदर्भ में चित्त को समझना बहुत आवश्यक है।

योग साहित्य में चेतना अथवा चित्त पर बहुत लिखा गया है। आचार्य जिनभद्र के अनुसार स्थिर अध्यवसाय ध्यान है और अस्थिर अध्यवसाय चित्त है। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार हमारा चैतन्य अखण्ड सूर्य है और चित्त उस सूर्य की एक रश्मि है। हमारा चित्त सूक्ष्म शरीर के द्वारा संचालित होता है। भाव और मन—ये दोनों चित्त के उत्पाद हैं। सूक्ष्म शरीर के कुछ स्पन्दन चित्त तक पहुँचते हैं। चित्त हमारे मस्तिष्क के साथ कार्य करने वाली चेतना है। जब ये स्पन्दन आते हैं तो चित्त भावों का निर्माण करता है और उन भावों की क्रिया को संचालित करने के लिए चित्त एक तंत्र का निर्माण करता है और वह तंत्र है—मन। इस प्रकार भाव और मन चित्त के द्वारा निष्पन्न किये हुए तत्त्व हैं। चित्त अपनी चेतनात्मक प्रवृत्ति शरीर, वाणी और मन के माध्यम से करता है। प्रेक्षाध्यान का मुख्य उद्देश्य है—चित्त शुद्धि। इसके लिए कषाय, चंचलता एवं बाह्य निमित्त—तीनों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान साधना के अन्तर्गत निमित्तों से बचाव के लिए संकल्प, व्रत एवं प्रतिसंलीनता की साधना करवायी जाती है। चंचलता को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग, श्वासप्रेक्षा आदि के प्रयोग करवाये जाते हैं। कषाय मुक्ति के लिए शरीर प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, लेश्या ध्यान, अनुप्रेक्षा एवं भावना के प्रयोग निर्दिष्ट हैं। चित्त शुद्धि के मुख्य उपाय निम्न बताये गए हैं—

- | | |
|---------------------------------|-----------------------------------|
| 1. चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा, | 2. राग-द्वेष मुक्त क्षण का अनुभव, |
| 3. शुद्ध चैतन्य का अनुभव, | 4. निर्विचार प्रेक्षा, |
| 5. ज्ञाता-दृष्टा भाव का प्रयोग, | 6. भावक्रिया। |

15.9 सारांश

जीवन के अनगिनत रहस्यों को समझने और जीवन में परिवर्तन लाने के लिए इन सात पक्षों पर 'प्रेक्षाध्यान' के प्रभाव का वैज्ञानिक उपकरणों एवं मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से अध्ययन करना ही 'जीवन विज्ञान' का उद्देश्य और लक्ष्य है। जीवन को समग्रता से समझने के लिए उक्त सात बिन्दुओं पर ध्यान देना और उनके परिष्कार की चेष्टा करना मानवीय मूल्यों के विकास का प्रथम सोपान है।

15.10 बोध प्रश्न

1. शरीर किसे कहते हैं?
2. प्राण के कितने प्रकार हैं?
3. चित्त शुद्धि के उपाय क्या हैं?

इकाई-16 : जीवन विज्ञान में सोलह मूल्य

संरचना

- 16.1 जीवन विज्ञान और मूल्य
- 16.2 सामाजिक मूल्य
- 16.3 बौद्धिक मूल्य
- 16.4 मानसिक मूल्य
- 16.5 नैतिक मूल्य
- 16.6 आध्यात्मिक मूल्य
- 16.7 सारांश
- 16.8 बोध-प्रश्न

16.1 जीवन विज्ञान और मूल्य

मूल्य आधारित शिक्षा को प्रारम्भ से ही शिक्षा जगत् में महत्त्व दिया जाता रहा है, परन्तु वे सामान्यतया अभ्यास में लाए जाने वाले बाहरी मूल्यों पर ही ध्यान देते हैं। अधिकतर आज मूल्य आधारित शिक्षा जबरदस्ती या थोपी हुई प्रतीत होती है। मूल्य आधारित शिक्षा को अधिक प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि शिक्षा में उन मौलिक, शाश्वत तथा आध्यात्मिक मूल्यों को सम्मिलित किया जाए जो हृदय की गहराइयों से उत्पन्न होती हों। इससे न केवल जीवन स्तर में बल्कि जीवन की गुणवत्ता में निश्चित रूप से सुधार आएगा तथा जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं में भी संतुलन होगा।

जीवन विज्ञान शिक्षा का सर्वांगीण दर्शन है। सर्वांगीण दर्शन वह होता है, जिसमें विभिन्न स्तरीय मूल्यों का सामंजस्य होता है। जीवन विज्ञान मूल्यपरक शिक्षा की समन्वयात्मक प्रयोग पद्धति है। इसमें सोलह मूल्य निर्धारित किये गए हैं, जिनका वर्गीकरण आचार्य महाप्रज्ञ ने इस प्रकार किया है—

1. सामाजिक मूल्य—1. कर्तव्यनिष्ठा, 2. स्वावलम्बन।
2. बौद्धिक मूल्य—3. सत्य, 4. समन्वय, 5. सम्प्रदाय निरपेक्षता, 6. मानवीय एकता।
3. मानसिक मूल्य—7. मानसिक संतुलन, 8. धैर्य।
4. नैतिक मूल्य—9. प्रामाणिकता, 10. करुणा, 11. सह-अस्तित्व।
5. आध्यात्मिक मूल्य—12. अनासक्ति, 13. सहिष्णुता, 14. मृदुता, 15. अभय, 16. आत्मानुशासन।

16.2 सामाजिक मूल्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्तिगत जीवन जीते हुए भी उसे समाज में रहना और सामाजिक रीति-नीति का निर्वाह करना पड़ता है अतः उसके लिए सामाजिक मूल्यों को विकसित करना आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा ही जीवन में मूल्यों का विकास हो सकता है अतः शिक्षा में सामाजिक मूल्यों का होना अनिवार्य है। आचार्य महाप्रज्ञ ने कर्तव्यनिष्ठा और स्वावलम्बन की भावना को सामाजिक मूल्य के रूप में स्थापित किया है।

1. कर्तव्यनिष्ठा

कर्तव्यनिष्ठा की भावना स्वस्थ समाज एवं राष्ट्र की जन्मदात्री है। एक कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति व्यक्तिगत आकांक्षाओं को मूल्य नहीं देता। वह जाति, रंग, भाषा एवं राष्ट्रीयता की भिन्नता में भी सब मानवों में अभिन्नता देखता है। कर्तव्य के प्रति जागरूक व्यक्ति अकरणीय कार्य नहीं करता। कदाचित् उसके चरण अकरणीय कार्य की

ओर बढ़ते भी हैं तो कर्तव्य की प्रेरणा उन्हें रोक देती है। जिस समाज में कर्तव्यबोध नहीं होता, वह समाज स्वस्थ समाज नहीं होता। जिस समाज में कर्तव्य और दायित्व-बोध की चेतना जाग जाती है, वह स्वस्थ समाज होता है। कर्तव्यनिष्ठ जीवन एक प्रशस्त जीवन पद्धति ही नहीं देश की बहुत बड़ी शक्ति है। यह शक्ति देश को चारित्रिक संपदा से समृद्ध कर सकती है।

2. स्वावलम्बन

स्वावलम्बन सामाजिक विकास का मूल आधार है। स्वावलम्बन शब्द का तात्पर्य है—स्वयं का आलम्बन लेना। कोई भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र दूसरों के सहारे सम्मानपूर्वक नहीं जी सकता। स्वावलम्बन एक ऐसा मानवीय गुण है, जिससे व्यक्ति के जीवन में अनेकानेक शक्ति के स्रोत उद्घाटित हो सकते हैं। इस यांत्रिक युग ने आज मनुष्य को इतना अधिक सुविधाभोगी और परवश बना दिया है कि वह पूर्णतः उन यंत्रों पर आश्रित है पर वस्तुतः स्वावलम्बन का जीवन में बहुत महत्त्व है। मनुष्य के अतिरिक्त प्रायः सभी प्राणी स्वावलम्बन का जीवन जीते हैं किन्तु मनुष्य समाज का एक बहुत बड़ा भाग श्रमहीन बन गया है। यह एक सच्चाई है कि शरीर के जिस अवयव को श्रम नहीं मिलता, वह अंग निकम्मा, चेतना-शून्य और रुग्ण हो जाता है अतः इस अकर्मण्यता की बीमारी से बचना चाहिए। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास कर अधिक से अधिक स्वावलम्बन का जीवन जीना चाहिए।

16.3 बौद्धिक मूल्य

मूल्यबोध की चेतना के जागरण के लिए बौद्धिक विकास अपेक्षित है। जिस व्यक्ति को मूल्यों का ज्ञान नहीं होता, वह उसका आचरण भी नहीं कर सकता। अतः मूल्य-बोध की स्पष्टता और उसकी सीमा का बोध अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य महाप्रज्ञ ने चार बौद्धिक मूल्य निर्धारित किए हैं—सत्य, समन्वय, सम्प्रदाय निरपेक्षता और मानवीय एकता।

3. सत्य

सत्य एक महत्त्वपूर्ण जीवन मूल्य है। यह जीवन की आधारशिला और मानवीय विश्वास का आधार है। भगवान महावीर ने सत्य को भगवान की संज्ञा दी है। सत्य का अर्थ है—किसी भी परिस्थिति में झूठ का प्रयोग नहीं करना। सत्य का संबंध केवल वाणी से नहीं अपितु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से है। जो सदा सत्य बोलता है, उसकी वाक्शुद्धि हो जाती है। उसके मुख से निकली हर बात सच होती है। जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका तेज प्रतिदिन बढ़ता है। व्यक्ति को चाहिए वह किसी भी परिस्थिति में या प्रलोभनवश असत्य का आचरण नहीं करे। सत्य पर सदा अडिग रहे।

4. समन्वय

बौद्धिक विकास के लिए समन्वय की भावना का अभ्यास आवश्यक है। जहां अनेक व्यक्ति होते हैं, वहाँ परस्पर अपने-अपने विचारों की स्वतंत्रता एवं अधिकारों के लिए संघर्ष भी होता है। संघर्ष से बुद्धि का द्वास होता है। अतः संघर्ष निवारण के लिए समन्वय की बहुत आवश्यकता है।

भगवान महावीर ने कहा प्रत्येक पदार्थ में अनन्त विरोधी धर्म होते हैं और वे पदार्थ में एक साथ रहते हैं। यह समन्वय का सिद्धान्त है। जहाँ समन्वय की चेतना का विकास होता है, वहाँ विरोध भी विरोध प्रतीत नहीं होता अतः आज अपेक्षा है कि अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय हो, विचार और व्यवहार में समन्वय हो तथा चेतन और अचेतन में भी समन्वय हो।

5. सम्प्रदाय निरपेक्षता

धर्म और सम्प्रदाय—ये दो चीजें हैं, दोनों का अपना-अपना मूल्य है। धर्म है—आध्यात्मिक चेतना का जागरण अर्थात् भीतरी चेतना का जागरण। सम्प्रदाय से तात्पर्य है—चेतना के जागरण में सहयोग देने वाला संस्थान। आज धर्म और सम्प्रदाय को एक माना जा रहा है जो कि ठीक नहीं है। कुछ लोग कहते हैं तुम मेरे सम्प्रदाय में आ जाओ तो तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी अन्यथा नहीं। उनका यह कथन उचित नहीं। धर्म की आराधना सम्प्रदायातीत

और सत्याभिमुख होकर ही की जा सकती है। सम्प्रदाय एक साधन है, वह स्वयं धर्म नहीं। धर्म की आराधना सम्प्रदाय निरपेक्ष होकर ही की जा सकती है।

6. मानवीय एकता

भगवान महावीर ने कहा—**एका मणुस्स जाइ** अर्थात् मनुष्य जाति एक है। शूद्र और ब्राह्मण में रंग और आकृति की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई देता। दोनों की गर्भाधान विधि और जन्म पद्धति भी एक ही तरह की है। गाय और भैंस में जैसे जातिकृत भेद है, वैसे शूद्र और ब्राह्मण में नहीं है। जाति, रंग, भाषा, सम्प्रदाय आदि के आधार पर मानव-मानव को बांटना उचित नहीं। मनुष्य जाति एक है। अतः हमें संकल्प करना चाहिए—मैं जाति के आधार पर किसी को अस्पृश्य नहीं मानूँगा और जाति के आधार पर किसी का ऊँच-नीच नहीं मानूँगा, घृणा नहीं फैलाऊँगा।

16.4 मानसिक मूल्य

मानसिक मूल्यों के अभाव में भी व्यक्ति स्वस्थ जीवन नहीं जी सकता। मानसिक संतुलन और धैर्य—ये दो मानसिक मूल्य हैं।

7. मानसिक संतुलन

मानसिक असंतुलन के अनेक कारण हैं। उनमें मुख्य हैं—तनाव, निराशा, कुण्ठा, अस्वस्थता आदि। इनके कारण मानसिक संतुलन अस्त-व्यस्त हो जाता है। संतुलन के अभाव में समस्याएँ पैदा होती हैं। पारिवारिक कलह, सामाजिक संघर्ष आदि असंतुलन की ही देन हैं। साधना का अर्थ है—संतुलन। प्रतिकूल परिस्थिति को सहन न कर पाना और अनुकूल परिस्थिति में फूलकर कुप्पा हो जाना, दोनों ही असंतुलन के परिणाम हैं। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान आदि सभी परिस्थितियों में संतुलित रहने के लिए मन को प्रशिक्षित करना आवश्यक है। भावक्रिया का अभ्यास तथा दीर्घश्वास प्रेक्षा मन को संतुलित रखने के महत्वपूर्ण उपाय हैं।

8. धैर्य

धैर्य एक बहुत बड़ी मानसिक शक्ति है। धैर्य का विकास उसी में होता है जो सुविधा को महत्त्व न देकर कष्ट सहिष्णुता को महत्त्व देता है। जिस प्रकार जो पौधे प्रारम्भ में तूफानों के प्रहारों को सह लेते हैं, वे मजबूत हो जाते हैं। जो पौधे बांध दिये जाते हैं वे उस तूफान से तो बच जाते हैं, पर जीवन भर कमजोर रह जाते हैं। भगवान महावीर को संगम नामक देव ने एक रात में बीस मारणान्तिक कष्ट दिए पर महावीर उन कष्टों में विचलित नहीं हुए। समभावपूर्वक धैर्य से सहन किया। अन्त में संगम उनके चरणों में झुक गया और माफी मांगी। धैर्य का फल सदैव मीठा होता है। धैर्यवान व्यक्ति ही जीवन में सफल होता है।

16.5 नैतिक मूल्य

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में नैतिकता का बहुत मूल्य था और उसकी चर्चा भी उपलब्ध होती है। आज नैतिक शिक्षा के स्थान पर 'मूल्यपरक शिक्षा' यह शब्द प्रस्थापित हो गया है। नैतिक मूल्यों के वर्गीकरण के अन्तर्गत तीन मूल्यों का समावेश किया गया है—प्रामाणिकता, करुणा और सह-अस्तित्व।

9. प्रामाणिकता

प्रामाणिकता जीवन का आधार है। इससे व्यक्तित्व निखरता है। नैतिकता का एक अर्थ है—प्रामाणिकता। प्रामाणिकता तीन प्रकार की होती है—वचन की प्रामाणिकता, अर्थ की प्रामाणिकता और व्यवहार की प्रामाणिकता।

वचन की प्रामाणिकता से तात्पर्य जो बात मुँह से कह दी वह लोह की लकीर बन गई। प्राण जाए पर वचन को नहीं तोड़ना। अर्थ की प्रामाणिकता से तात्पर्य अपने व्यक्तिगत कार्य के लिए किसी संस्थान के पैसे का उपयोग नहीं करना। आचार्य नरेन्द्रदेव वाइस चांसलर थे। एक दिन वे तांगे से जा रहे थे। लोगों ने पूछा—आपके

पास कार है, फिर तांगे से क्यों जा रहे हैं। उन्होंने कहा—कार विश्वविद्यालय की है। अभी मैं अपने व्यक्तिगत कार्य से जा रहा हूँ। यह है आर्थिक प्रामाणिकता। व्यवहार की प्रामाणिकता से तात्पर्य ऐसा व्यवहार करना, जिससे सबमें विश्वास पैदा हो। जब व्यवहार में अप्रामाणिकता आ जाती है तब समाज स्वस्थ नहीं रहता। नैतिकता का मूल आधार प्रामाणिकता है।

10. करुणा

नैतिकता का दूसरा मूल आधार करुणा है। करुणा का संबंध संवेदनशीलता से है। मनुष्य जितना ज्यादा संवेदनशील होगा, उतनी ही उसमें करुणा विकसित होगी। जितना असंवेदनशील होगा, उतनी ही क्रूरता विकसित होगी। क्रूरता का सबसे बड़ा कारण है—लोभ। जब तक लोभ की भावना प्रबल रहेगी, क्रूरता को मिटाया नहीं जा सकेगा। अतः आवश्यक है आवेग-आवेश को कम किया जाए। करुणा केवल मनुष्य के प्रति नहीं अपितु प्राणी मात्र के प्रति होनी चाहिए। यह भीतर से फूटने वाला एक अमृत का झरना है। जब करुणा का प्रारम्भ हृदय से होता है, तभी व्यक्ति दीन-दुखियों की सेवा कर सकता है।

11. सह-अस्तित्व

इस जगत् में जितने भी जड़-चेतन पदार्थ हैं, वे एक-दूसरे का सहयोग लेते भी हैं और सहयोग देते भी हैं। इसका कारण है कि वे परस्पर विरोधी होते हुए भी उनका सह-अस्तित्व है। सामान्यतः यह माना जाता है कि दो विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते। भगवान महावीर ने एक सिद्धान्त दिया कि दो विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं। वस्तुतः जिन्हें हम विरोधी मानते हैं, वे सर्वथा विरोधी नहीं हैं। एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों साथ रहते हैं और एक-दूसरे का सहयोग करते हैं।

परिवार, समाज, राष्ट्र में भी शांत सहवास हो सके इसके लिए सह-अस्तित्व की चेतना का जागरण अत्यन्त अपेक्षित है। जहाँ इस चेतना का जागरण हो जाता है, वहाँ अनेक समस्याएँ स्वतः समाहित हो जाती हैं।

16.6 आध्यात्मिक मूल्य

अन्तर्जगत् की पहचान कराने के लिए जिस विद्या का विकास हुआ, उस विद्या का नाम है—अध्यात्म विद्या। आत्मा को केन्द्र में रखकर जो भी क्रिया की जाती है, वे सभी आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं। आत्मा को कर्म से मुक्त कर आत्म-स्वरूप में स्थिर करना ही अध्यात्म साधना का उद्देश्य है। आचार्य महाप्रज्ञ ने आध्यात्मिक विकास के लिए पांच आध्यात्मिक मूल्य निर्धारित किए हैं—अनासक्ति, सहिष्णुता, मृदुता, अभय और आत्मानुशासन।

12. अनासक्ति

आसक्ति दुःख का मूल कारण है। अतः जैन दर्शन का मुख्य ध्येय अनासक्ति की चेतना का विकास रहा है। भगवान महावीर ने कहा—इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति एवं उनका भोग क्षणमात्र सुख देते हैं किन्तु उनका परिणाम दुःख ही होता है, दीर्घकाल तक भोगना पड़ता है। अतः पदार्थों का उपयोग आवश्यकतावश करना चाहिए, आसक्ति के साथ नहीं।

गीता का नवनीत है—अनासक्त योग। अनासक्त चेतना वाला पुरुष क्रिया करते हुए भी कर्म के बंधन में नहीं बंधता जबकि आसक्त चेतना वाला पुरुष हर क्रिया के साथ गाढ़ कर्म को बांधता है। अनासक्ति की चेतना जाग जाने पर व्यक्ति वस्तु का उपयोग इस होश के साथ करता है कि मुझे आवश्यकतावश इस वस्तु का उपयोग करना पड़ रहा है। किन्तु जब वस्तु में आसक्ति होती है तो वह पदार्थ के प्रति मूर्च्छित हो उसका उपभोग करता है। जिस प्रकार काठ को छेदने की क्षमता रखने वाला भंवरा कमल में आसक्त होने के कारण उसकी कोमल पंखुड़ियों को छेदकर बाहर नहीं निकल पाता, उसमें बंद हो जाता है और हाथी के द्वारा उदरस्थ कर लिया जाता है। उसी प्रकार भोगों में आसक्त व्यक्ति उसमें लिप्त हो संसार जाल में फंसा रहता है। दुःख मुक्ति के लिए आवश्यक है—अनासक्त चेतना का विकास करना।

13. सहिष्णुता

सहिष्णुता हमारी चेतना की एक बहुत बड़ी शक्ति है। अध्यात्म-साधक को कष्ट सहिष्णु होना चाहिए। सहिष्णुता के अभाव में अध्यात्म का विकास संभव नहीं हो सकता। आज व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जातियों और वर्गों के बीच, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच जो झगड़े हो रहे हैं, उसका मूल कारण है—असहिष्णुता। यदि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एक-दूसरे को सहन करना सीख जाँएँ तो झगड़े समाप्त हो सकते हैं। भगवान महावीर की साधना का मुख्य आधार था—कष्ट-सहिष्णुता। सहिष्णुता का अर्थ है—सर्दी को सहन करना, गर्मी को सहन करना, भूख-प्यास को सहन करना, हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करना। भगवान महावीर ने सहन किया, इसलिए वे अध्यात्म के शिखर पर पहुँच गए। आज सहिष्णुता का अभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, जिसके कारण तलाक बढ़ते जा रहे हैं, संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं।

सहिष्णुता का विकास शक्ति का विकास है। इस शक्ति के सहारे दूसरों की कमियों को भी सहा जा सकता है और दूसरे की विशेषताओं को भी सहा जा सकता है। हर परिस्थिति में संतुलन स्थापित रखा जा सकता है। सहनशील व्यक्ति ही क्षमा के महान् आदर्श तक पहुँच सकता है। आध्यात्मिक विकास के लिए सहिष्णुता जहाँ अनिवार्य है, वही व्यावहारिक जीवन में भी कष्टों को सहे बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। शिक्षा, समाज-सेवा, व्यवसाय, खेल या राजनीति कोई भी क्षेत्र हो, इनमें महान् वही बनता है, जो सहिष्णु होता है।

14. मृदुता

कोमलता का नाम मृदुता है। ज्ञान, पूजा, जाति, कुल, बल, रूप, ऋद्धि से सम्पन्न होने पर भी इनका अहंकार न करना मृदुता है। अतः अहंकार का नाश एवं मृदुता का विकास करना चाहिए। मृदु व्यक्ति हर परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लेता है। बहुत बार कठोर अनुशासन से जो कार्य नहीं होता वह मृदु व्यवहार से हो सकता है। हर प्राणी प्रेमपूर्ण मृदु व्यवहार चाहता है। वैज्ञानिकों ने वनस्पति जगत पर प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिया कि जिन पौधों को प्रेमपूर्ण भावना से पानी सींचा गया, वे पौधे विकसित हो गए और जिनकी उपेक्षा की गई, वे मुरझा गए।

मृदुता का अर्थ है—विनम्र व्यवहार, अहंकारमुक्त व्यवहार। इस व्यवहार से प्राणी मात्र के रसायन परिवर्तित हो जाते हैं। वृक्ष अधिक फल देने लग जाते हैं, गायें अधिक दूध देने लग जाती हैं, हिंसक पशु भी शांत हो जाते हैं। मृदुता के विकास से प्राणीमात्र के प्रति मैत्री-भाव विकसित हो जाता है।

15. अभय

मनोविज्ञान में भय को एक मौलिक मनोवृत्ति माना गया है। भय का मूल कारण अज्ञान है। अनिष्ट की आशंका, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग आदि अनेक मानसिक विप्लव भय के कारण बनते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ का मानना है कि भय से भय बढ़ता है और अभय से अभय बढ़ता है। अभय रहकर ही व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर सकता है। भगवान महावीर ने प्रमाद को भय और अप्रमाद को अभय कहा है। प्रमत्त व्यक्ति को चारों ओर से भय सताता रहता है, अप्रमत्त व्यक्ति को किसी का भय नहीं सताता। वह मृत्यु से भी भयभीत नहीं होता। अध्यात्म का प्रथम और अंतिम बिन्दु भी अभय की साधना ही है। भयभीत व्यक्ति आध्यात्मिक नहीं हो सकता।

16. आत्मानुशासन

आत्मानुशासन अर्थात् स्वयं पर स्वयं का अनुशासन। अनुशासन दो प्रकार का होता है— आत्मानुशासन और परानुशासन। आध्यात्मिक व्यक्ति आत्मानुशासित होता है, वह दूसरे के अनुशासन की अपेक्षा नहीं रखता।

जनतंत्र का मूल आधार है—स्वतंत्रता। उसका मूल आधार है—व्यक्ति का आत्मानुशासन। जब तक व्यक्ति अपने आप पर नियंत्रण नहीं रख सकता तब तक वह स्वतंत्रता की लौ प्रज्वलित नहीं कर सकता। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे आत्मानुशासन के विकास से ही हुए हैं। भगवान महावीर ने भी यही कहा—शत्रुओं को

वश में करना, उन्हें पराजित करने वाला विजयी नहीं होता अपितु जो आत्मानुशासित होता है, आत्म-शत्रुओं—क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतता है, वह परम विजयी होता है। अतः आध्यात्मिक विकास की अनिवार्य शर्त है—आत्मानुशासन की चेतना का जागरण।

इन पांचों वर्गों के सोलह मूल्यों का विकास करना जीवन विज्ञान का ध्येय है। किसी एक वर्ग के मूल्यों से स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। कभी-कभी मनुष्य एकांगी दृष्टि से कह देता है कि अर्थ (धन) की पूर्ति से समाज सुव्यवस्थित चल सकता है। पर यह कहना ठीक नहीं है। जहाँ आर्थिक मूल्यों को अतिरिक्त मूल्य दिया जाता है, वहाँ असंतोष और पागलपन बढ़ता है। जहाँ आध्यात्मिक मूल्यों को अतिरिक्त स्थान दिया जाता है, वहाँ गरीबी बढ़ सकती है, परतंत्रता भी आ सकती है। अध्यात्म में लीन रहने मात्र से स्वयं का और परिवार का पोषण नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि आदमी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बने। जिसका, जिस स्तर पर जितना मूल्य हो उसको उतना मूल्य दिया जाए। शरीर के स्तर पर मूल्य भोजन का है और अध्यात्म के स्तर पर मूल्य भक्ति-भजन का है। अतः कब किसका महत्त्व अधिक है, इसे अपेक्षाभेद से समझना चाहिए। जैसे—शारीरिक स्तर पर भोजन का मूल्य अधिक है और आध्यात्मिक स्तर पर भक्ति का मूल्य अधिक है। अतः सर्वांगीण विकास के लिए सभी मूल्यों का विकास अपेक्षित है।

16.7 सारांश

इस प्रकार जीवन विज्ञान के अन्तर्गत सामाजिक, बौद्धिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा की गई है। सिद्धान्त के साथ-साथ उसके प्रयोग भी निर्दिष्ट किये गये हैं, जिनके अभ्यास से ये मूल्य जीवन में उतर सकते हैं।

16.8 बोध प्रश्न

1. आध्यात्मिक मूल्य कौन-से हैं?
2. मानसिक असंतुलन के क्या कारण हैं?
3. बौद्धिक विकास क्यों अपेक्षित है?

इकाई-17 : मूल्य विकास की प्रक्रिया : अनुप्रेक्षा

संरचना

- 17.1 मूल्य विकास की प्रक्रिया : अनुप्रेक्षा
- 17.2 अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया के चार चरण
- 17.3 अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया
- 17.4 सारांश
- 17.5 बोध-प्रश्न

17.1 मूल्य विकास की प्रक्रिया—अनुप्रेक्षा

मूल्यों के विकास के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोगों की महत्वपूर्ण भूमिका है। प्रेक्षा के बाद मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है, उससे मन प्रभावित होता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव पद्धति का प्रयोग है। सुझाव दो प्रकार से दिया जा सकता है—स्वयं व्यक्ति स्वयं को सुझाव देता है या अन्य व्यक्ति के सुझाव को सुनता है। यह ब्रेन वाशिंग का प्रयोग है। एक

ही बात की बार-बार पुनरावृत्ति करने से एक क्षण ऐसा आता है कि पुराने विचार छूट जाते हैं और नए विचार चित्त में जम जाते हैं। हमारे शारीरिक अवयव भी उसी प्रकार की क्रिया करने लग जाते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने उपर्युक्त सोलह मूल्यों के विकास के लिए सोलह अनुप्रेक्षाओं के प्रयोग बतलाए हैं। जीवन विज्ञान में सिद्धान्त एवं प्रयोग दोनों अपेक्षित हैं। प्रयोग शून्य सिद्धान्त जहाँ जीवन को स्व की अनुभूति से दूर रखता है, वहाँ सिद्धान्त शून्य प्रयोग मंजिल को भटकाव देता है। जीवन विज्ञान में इन मूल्यों के सिद्धान्त एवं प्रयोग दोनों का समन्वय किया गया है।

किसी भी मूल्य के विकास के लिए आवश्यक है उस मूल्य की भावना को अवचेतन मन तक पहुँचा देना। मनोविज्ञान में मन के तीन स्तर माने गए हैं—

1. चेतन मन,
2. अवचेतन मन,
3. अचेतन मन।

चेतन मन स्मृति, चिन्तन और कल्पनाओं के बीच अपना कार्य करता है। किन्तु बहुत बार सामाजिक मर्यादाओं के कारण व्यक्ति अपनी मनचाही नहीं कर सकता। परिणामतः अपनी इच्छाओं और वासनाओं को उसे दमित करना पड़ता है। दमित की गई इच्छाएँ और वासनाएँ अवचेतन मन में प्रतीकात्मक रूप में प्रकट होती हैं। अवचेतन मन से आगे अचेतन मन है, जहाँ अतीत के अनेक जन्मों के संस्कार भरे हुए हैं। ध्यान या कायोत्सर्ग की अवस्था में चेतन मन निष्क्रिय हो जाता है और अवचेतन मन सक्रिय होता है। उस अवस्था में किसी भी मूल्य के विकास का बार-बार चिन्तन करने पर वह बात अवचेतन मन में चली जाती है और वही से परिष्कार और विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए आवश्यक है अनुप्रेक्षा के द्वारा अपनी भावना को अवचेतन मन पर अंकित करना।

17.2 अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया के चार चरण

आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—प्रेक्षाध्यान में जो अनुप्रेक्षा के प्रयोग किये जाते हैं, उनमें चार तत्त्व प्रमुख हैं—

1. पहला तत्त्व है—उद्देश्य का निर्धारण करना। क्या प्राप्त करना चाहते हैं। किस मूल्य का विकास करना चाहते हैं।
2. दूसरा तत्त्व है—एकाग्रता का विकास करना। जो उद्देश्य बनाया है, उस पर पूर्ण एकाग्र बनना।
3. तीसरा तत्त्व है—मन और मस्तिष्क पर आदेश का गहराई से प्रयोग करना। उदाहरणतः अभय का विकास करना है तो हाइपोथेलेमस, जो भावधारा का मुख्य केन्द्र है, को सुझाव देना—तुम ऐसे स्रावों का प्रयोग करो, जिससे अभय की वृत्ति विकसित हो जाए।
4. चौथा तत्त्व है—अनुभूति करना। मस्तिष्क को आदेश देने के बाद अनुभूति को उसके साथ जोड़ना, भावना के साथ जोड़ना। इन चार चरणों में अनुप्रेक्षा का प्रयोग करने से परिवर्तन निश्चित रूप से घटित होता है।

17.3 अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया

अनुप्रेक्षा के प्रयोग में शरीर की शिथिलता और स्थिरता अनिवार्य होती है। इसके साथ ही श्वास का सम्यग् नियोजन तथा आस-पास के वातावरण की शुद्धि भी आवश्यक होती है। इसीलिए अनुप्रेक्षा से पूर्व महाप्राण ध्वनि, लयबद्ध दीर्घश्वास एवं कायोत्सर्ग के प्रयोग किये जाते हैं। अनुप्रेक्षा की विस्तृत प्रक्रिया अमूर्त चिन्तन पुस्तक में उपलब्ध है। यहाँ इनकी संक्षिप्त प्रक्रिया ही प्रस्तुत की जा रही है। प्रथम छः अनुप्रेक्षाओं के प्रयोग की विधि इस प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि—2 मिनट करना।
2. लयबद्ध दीर्घश्वास प्रेक्षा या सूक्ष्म भस्त्रिका—5 मिनट करना।
3. कायोत्सर्ग—5 मिनट करना।

इसके पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रयोगों में निर्दिष्ट चैतन्य केन्द्रों पर निर्दिष्ट शब्दावली को 12 मिनट तक दोहराया जाता है, जिनमें 4 मिनट बाह्य उच्चारण पूर्वक, 4 मिनट मंद उच्चारण पूर्वक तथा 4 मिनट मानसिक अनुचितन के रूप में शब्दावली की अनुप्रेक्षा चलती है।

अनुप्रेक्षा	चैतन्य केन्द्र	शब्दावली
1. कर्तव्यनिष्ठा	शान्ति केन्द्र	‘मैं अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक रहूँगा। कर्तव्य में बाधक क्रोध, लोभ, भय आदि को अनुशासित रखने का अभ्यास करूँगा।’
2. स्वावलम्बन	शान्ति केन्द्र	‘मैं स्वावलम्बी रहूँगा। अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वयं की शक्ति का उपयोग करूँगा।’
3. सत्य	शान्ति केन्द्र	‘मैं सत्य के प्रति आस्थावान रहूँगा। असत्य नहीं बोलूँगा, पूर्वाग्रह से बचूँगा।’
4. समन्वय	दर्शन केन्द्र	‘मैं विरोधी बातों और घटनाओं में संबंध खोजने का प्रयत्न करूँगा। मैं सर्वांगीण दृष्टि का विकास करूँगा।’
5. सम्प्रदाय निरपेक्षता	आनन्द केन्द्र	‘मैं साम्प्रदायिक कट्टरता से बचूँगा। मैं विभिन्न मान्यताओं और निरपेक्ष सम्प्रदायों के प्रति सद्भावना का विकास करूँगा।’
6. मानवीय एकता	विशुद्धि केन्द्र	‘मैं मानवीय एकता में विश्वास करूँगा। जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूँगा।’

आगे की अनुप्रेक्षाओं के प्रयोग की विधि इस प्रकार है—

1. महाप्राण ध्वनि—2 मिनट करना।
2. कायोत्सर्ग—5 मिनट करना।
3. अनुभव करें—चारों ओर निर्दिष्ट रंग के परमाणु फैले हुए हैं। प्रत्येक श्वास के साथ निर्दिष्ट रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं, ऐसा अनुभव करें।
4. निर्दिष्ट चैतन्य केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर निर्दिष्ट शब्दावली का नौ बार उच्चारण और नौ बार मानसिक उच्चारण करें।
5. निर्दिष्ट शब्दावली के साथ तदनुरूप अनुचितन करें।

अनुप्रेक्षा	श्वास का रंग	केन्द्र	शब्दावली
7. मानसिक संतुलन	हरा	दर्शनकेन्द्र	'आवेश अनुशासित हो रहा है। मानसिक संतुलन बढ़ रहा है।'
8. धैर्य	पीला	प्राणकेन्द्र	'मैं परिस्थितियों को झेलने की क्षमता का विकास करूँगा। मैं हर परिस्थिति में अपराजित रहूँगा।'
9. प्रामाणिकता	सफेद	ज्योतिकेन्द्र	'मेरी संकल्प शक्ति का विकास हो रहा है।'
10. करुणा	गुलाबी	आनन्दकेन्द्र	'सम्यग् दृष्टिकोण का विकास हो रहा है। करुणा का भाव पुष्ट हो रहा है।'
11. सहअस्तित्व	सफेद	आनन्द केन्द्र	'मैं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अभ्यास करूँगा। विध्वंसात्मक और आक्रामक प्रवृत्ति का समर्थन नहीं करूँगा।'
12. अनासक्ति	नीला	शांतिकेन्द्र	'अनासक्ति का विकास हो रहा है। पदार्थ के प्रति मूर्च्छा का भाव क्षीण हो रहा है।'
13. सहिष्णुता	नीला	ज्योतिकेन्द्र	'सहिष्णुता का भाव पुष्ट हो रहा है। मानसिक संतुलन बढ़ रहा है।'
14. मृदुता	हरा	शांतिकेन्द्र	'मृदुता का भाव पुष्ट हो रहा है। अहं का भाव क्षीण हो रहा है।'
15. अभय	गुलाबी	आनन्दकेन्द्र	'अभय का भाव पुष्ट हो रहा है। भय का भाव क्षीण हो रहा है।'
16. आत्मानुशासन	नीला	शांतिकेन्द्र	'नियन्त्रण की क्षमता बढ़ रही है। मन की चंचलता कम हो रही है।'

अनुप्रेक्षा के द्वारा व्यक्ति ज्ञान तंतुओं तथा कोशिकाओं को अपने वशवर्ती कर लेता है। हमारे शरीर में अरबों-खरबों न्यूरॉन्स हैं। ये न्यूरॉन्स हमारी अनेक प्रवृत्तियों का नियमन करते हैं। अनुप्रेक्षा के द्वारा जो संकल्प या भावना इन न्यूरॉन्स तक पहुँच जाते हैं, वे सफल हो जाते हैं। अनुप्रेक्षा मस्तिष्क की धुलाई करने का बहुत बड़ा साधन है। एक ही संकल्प की बार-बार पुनरावृत्ति करने से एक क्षण ऐसा आता है कि पुराने संस्कार छूट जाते हैं और नए विचार चित्त में जम जाते हैं।

प्रश्न होता है कि क्या एक बात को बार-बार दोहराने से जमे हुए गहरे संस्कार धुल सकते हैं? नाजियों का प्रसिद्ध सूत्र है कि एक झूठ को भी यदि हजार बार दोहराया जाये तो वह सच प्रतीत होने लगता है। जब

एक झूठ सच बन सकता है तो हजार बार दोहराने से एक सच 'सच' क्यों नहीं बन सकता, अर्थात् बन सकता है। अनुप्रेक्षा भी बार-बार अनुचिन्तन करने की प्रक्रिया है। जिस मूल्य के विकास का बार-बार चिन्तन किया जाता है, वह मूल्य जीवन में सच होता हुआ प्रतीत होता है अतः शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यों के विकास के लिए अनुप्रेक्षा का अधिकतम प्रयोग किया जा सकता है।

17.4 सारांश

इस प्रकार मूल्य विकास के लिए अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। अनुप्रेक्षा के द्वारा उस मूल्य को अवचेतन मन तक पहुंचाया जाता है और जो संस्कार वहाँ तक पहुंच जाते हैं, जीवन में वैसा बदलाव होना शुरू हो जाता है। अलग-अलग केन्द्रों पर अलग-अलग रंगों के साथ निर्धारित शब्दावली के प्रयोग से मूल्य का विकास किया जा सकता है।

17.5 बोध प्रश्न

1. धैर्य की अनुप्रेक्षा किस केन्द्र और रंग के साथ की जाती है?
2. कर्तव्यनिष्ठा की अनुप्रेक्षा में किस शब्दावली का प्रयोग किया जाता है?
3. मनोविज्ञान में मन के तीन स्तर कौन-से माने गये हैं?

इकाई-18 : आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व

संरचना

- 18.1 आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व
- 18.2 आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का अर्थ
- 18.3 आध्यात्मिक व्यक्तित्व की कसौटियाँ
- 18.4 वैज्ञानिक व्यक्तित्व की कसौटियाँ
- 18.5 सारांश
- 18.6 बोध-प्रश्न

18.1 आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व

प्राचीनकाल से ही जीवन की मुख्य दो धाराएँ मानी जाती रही हैं—अध्यात्मवादी एवं भौतिकवादी। जीवन की यात्रा का निर्वाह केवल अध्यात्मवाद या केवल भौतिकवाद से संभव नहीं है। जीवन निर्वाह के लिए पदार्थ आवश्यक है तो जीवन में शान्ति एवं समाधि के लिए अध्यात्म भी आवश्यक है। एकांतिक दृष्टिकोण से जीवन कभी भी सफल नहीं बन सकता अतः जीवन में अध्यात्म और विज्ञान दोनों का महत्त्व है।

स्वामी विवेकानन्द ने शताब्दी पूर्व कहा था—“अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए।” आचार्य विनोबा भावे ने भी इस बात का अनुभव किया। आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षा जगत् में जीवन विज्ञान के माध्यम से इस अपेक्षा की पूर्ति की। जीवन विज्ञान की कल्पना आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण की कल्पना है। इस पाठ्यक्रम में अध्यात्म और विज्ञान का समुचित प्रबन्धन है। उनके शब्दों में “अध्यात्म और विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं अतः दोनों का सापेक्ष विकास जरूरी है।”

18.2 आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का अर्थ

आज व्यक्ति का दृष्टिकोण वैज्ञानिक बनता जा रहा है और वह अध्यात्म से उतना ही दूर होता जा रहा है। पर यह सच है कि अध्यात्म से रहित विज्ञान, विकास का नहीं अपितु विनाश का कारण बन सकता है। विश्व के महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने अध्यात्म और विज्ञान दोनों पर बल देते हुए लिखा—“Religion without science is blind; science without religion is lame.”

आज वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक दृष्टि अपेक्षित है किन्तु शान्तिपूर्ण जीवन के लिए आध्यात्मिक दृष्टि भी उतनी ही अनिवार्य है। आध्यात्मिकता + वैज्ञानिकता = आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व।

आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण का तात्पर्य केवल इन दोनों विषयों का तुलनात्मक अध्ययन ही नहीं है अपितु उस चेतना का जागरण है जो शाश्वत सत्यों और प्रयोग दोनों की सत्ता को एक साथ स्वीकार करे। आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का अर्थ है—अध्यात्म के सिद्धान्तों को प्रायोगिक स्वरूप प्रदान करना।

18.3 आध्यात्मिक व्यक्तित्व की कसौटियाँ

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आध्यात्मिक व्यक्तित्व की निम्नलिखित कसौटियाँ हैं—

1. आत्मतुला की भावना का विकास
2. इन्द्रियजयी
3. अनासक्ति
4. भावविशुद्धि
5. परिस्थिति से अप्रभावित।

1. आत्मतुला की भावना का विकास

आध्यात्मिक व्यक्ति की पहली कसौटी है—आत्मतुला की भावना का विकास करना। आत्मतुला का अर्थ है—सभी प्राणियों को अपने समान समझना। आत्म स्वरूप की दृष्टि से सभी जीव समान हैं। कोई छोटा या बड़ा नहीं है। कर्मों के अधीन हो व्यक्ति छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच आदि बनता है अतः किसी को छोटा मानकर उसका शोषण करना, उसके साथ क्रूर व्यवहार करना मानवीयता नहीं है। ‘मिति मे सव्व भूएसु’ सब प्राणियों के साथ मैत्री भाव को पुष्ट करना ही आत्मतुला की भावना का विकास है। आध्यात्मिक व्यक्ति की आस्था अहिंसा में होती है। उसकी दृष्टि में किसी प्राणी को तुच्छ समझकर उसकी हिंसा करना, वास्तव में स्वयं की हिंसा करना है। इस प्रकार आध्यात्मिक व्यक्ति सभी प्राणियों को आत्मतुल्य समझता है।

2. इन्द्रियजयी

आध्यात्मिक व्यक्ति की दूसरी कसौटी है—इन्द्रियजयी होना। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त कर लेता है, उन पर नियन्त्रण कर लेता है, वह आध्यात्मिक होता है। आध्यात्मिक व्यक्ति इन्द्रियों के वशीभूत नहीं होता अपितु इन्द्रियों को अपने वश में रखता है। इन्द्रिय विषयों में आसक्त व्यक्ति आत्मा का विकास नहीं अपितु उसी प्रकार विनाश करता है, जिस प्रकार पतंगा दीपक में आसक्त होकर और भंवरा फूल में आसक्त होकर स्वयं का विनाश करता है। आध्यात्मिक व्यक्ति इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त कर लेता है।

3. अनासक्ति

आध्यात्मिक व्यक्तित्व की तीसरी कसौटी है—अनासक्ति। इन्द्रिय-विजय की साधना होने पर विषयों के प्रति स्वतः अनासक्ति की चेतना जाग जाती है। वह पदार्थ को पदार्थ की दृष्टि से देखता है तथा शरीर के प्रति भी ममत्व भाव नहीं रखता। रोटी, कपड़ा और मकान को जीवन चलाने के साधन रूप में स्वीकार करता है, उन्हें

साध्य नहीं मानता। इसीलिए वह शरीर को चलाने के लिए भोजन करता है, स्वाद तथा आसक्ति से नहीं। शरीर की सुरक्षा के लिए वस्त्र धारण करता है, विभूषा के लिए नहीं। आश्रय के लिए मकान का निर्माण करता है, पर मकान उसके दिमाग में नहीं रहता। संसार के किसी भी भौतिक पदार्थ में उसकी आसक्ति नहीं होती, ममत्व नहीं होता। उन्हें वह नाशवान् समझता है। उसका अनुराग एकमात्र अपनी आत्मा के प्रति होता है।

4. भावविशुद्धि

आध्यात्मिक व्यक्तित्व की चौथी कसौटी है—भावविशुद्धि। वह हर क्षण जागरूक रहता है और किसी भी परिस्थिति में भावों को दूषित नहीं होने देता। कर्मोदय के कारण यदि कभी अशुभ भाव आ जाते हैं तो वह तत्काल उन्हें शुभ भावों में बदलने की कोशिश करता है। भावों से शुद्ध बना व्यक्ति अपना अहित करने वालों का भी हित सोचता है। सत्य की खोज वही कर सकता है जिसके भावों की शुद्धि होती है। अशुभ भाव व्यक्ति के भीतर चंचलता और बहिर्मुखता पैदा करते हैं, जिसके कारण वह जीवन में कोई विशेष उपलब्धि नहीं प्राप्त कर सकता। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार दर्शन केन्द्र, ज्योति केन्द्र और शान्ति केन्द्र पर ध्यान करने से भाव विशुद्धि होती है।

5. परिस्थिति से अप्रभावित

आध्यात्मिक व्यक्तित्व की पांचवी कसौटी है—परिस्थिति से अप्रभावित रहना। भौतिकवादी व्यक्ति परिस्थिति से बहुत जल्दी प्रभावित होता है। वह अनुकूल परिस्थिति मिलने पर खुश और प्रतिकूल परिस्थिति में निराश हो जाता है। वह परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता। जबकि आध्यात्मिक व्यक्ति बाह्य परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता। वह हर परिस्थिति में संतुलन बनाये रखता है।

18.4 वैज्ञानिक व्यक्तित्व की कसौटियाँ

वैज्ञानिक व्यक्तित्व की मुख्य चार कसौटियाँ हैं—

1. सत्य की खोज
2. नियम की खोज
3. उदार दृष्टिकोण
4. रूढ़िवादिता का अभाव।

1. सत्य की खोज

वैज्ञानिक व्यक्तित्व की पहली कसौटी है—सत्य की खोज। एक वैज्ञानिक हिन्दुस्तान में बैठकर किसी प्रकार का प्रयोग करके जो सत्य या निष्कर्ष प्राप्त करता है। वही निष्कर्ष अमेरिका में बैठा हुआ एक वैज्ञानिक उसी तरह का प्रयोग करके प्राप्त करेगा। हजार वर्ष पहले किसी वैज्ञानिक ने प्रयोग करके जो फल निकाला था, हजार वर्ष बाद भी आज का वैज्ञानिक वैसे ही प्रयोग से वही फल प्राप्त करेगा। अतः यह स्पष्ट है कि त्रिकालबाधित सत्य ही विज्ञान है। देश या काल के कारण उसमें कोई अन्तर नहीं आता। सत्य शाश्वत होता है। एक वैज्ञानिक शाश्वत सत्य की खोज का प्रयास करता है।

2. नियम की खोज

वैज्ञानिक व्यक्तित्व की दूसरी कसौटी है—नियम की खोज। सत्य की खोज करने के लिए वैज्ञानिक नियमों की खोज करता है, क्योंकि नियमों की खोज के बिना सच्चाई का पता नहीं चलता। सारा जगत नियमों के आधार पर चलता है। उन नियमों को नहीं जानने पर वे हमें चमत्कार जैसे लगते हैं। जो नियम जानता है उसके लिए वे चमत्कार नहीं होते।

जब पहली बार आग जली, तब सबको बड़ा चमत्कार लगा। जैसे-जैसे आग के नियम ज्ञात हुए, चमत्कार समाप्त हो गया। जब रेलगाड़ी बनी और पटरियों पर दौड़ने लगी तो लोगों को बड़ा चमत्कार लगा, किन्तु जब रेलगाड़ी के नियमों का पता लगा तो रेल चमत्कार नहीं लगी।

दुनियाँ में नियमों के प्रतिकूल कुछ भी नहीं है। हर घटना के पीछे कोई न कोई नियम होता है। वैज्ञानिक उन नियमों की खोज करता है। नियमों को जाने बिना कोई भी व्यक्ति वैज्ञानिक नहीं बन सकता और न ही सत्य की खोज कर सकता है।

3. उदार दृष्टिकोण

वैज्ञानिक व्यक्तित्व की तीसरी कसौटी है—उदार दृष्टिकोण। वैज्ञानिक व्यक्ति में अपनी बात को सच मानने का आग्रह नहीं होता, अपितु कुछ जानने का प्रयास होता है। भगवान महावीर ने कहा सत्य अनन्त है, पर्याय अनन्त है और नियम अनन्त है। इसलिए कुछ नियमों को जानकर कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि वह सब कुछ जानता है या पूर्ण सत्य को जानता है। अपने इस उदार दृष्टिकोण के कारण ही वैज्ञानिक दूसरों के द्वारा खोजे गये सत्य को भी स्वीकार करता है।

महान वैज्ञानिक न्यूटन से कहा गया—“आपने बहुत से नियम खोजे हैं। आपसे बड़ा कोई वैज्ञानिक नहीं होगा।” उन्होंने बहुत मार्मिक उत्तर दिया—“तुम लोग कुछ भी कहो पर मेरी स्थिति तो समुद्र के तट पर खड़े उस बालक जैसी है, जो समुद्र के किनारे पड़ी सीपियों को बटोर रहा है, किन्तु विशाल समुद्र के गर्भ में छिपे रत्न उससे बहुत दूर हैं।” जिसमें नये सत्यों को ग्रहण करने का इतना उदार दृष्टिकोण होता है, वह सत्य की अनन्त पर्यायों को जानने के लिए अपना दरवाजा और खिड़कियाँ बंद नहीं करता।

4. रूढ़िवादिता का अभाव

वैज्ञानिक व्यक्तित्व की चौथी कसौटी है—रूढ़िवादिता का अभाव। उदार दृष्टिकोण के कारण उसमें रूढ़िवादिता का अभाव होता है। वह कभी भी इस भाषा का प्रयोग नहीं करता है कि मैंने जो जाना है, सत्य उतना ही है या वैसा ही है। उससे परे सत्य नहीं है। उसकी भाषा होती है—आज मैंने इस सत्य को जाना है, हो सकता है कल नये प्रयोग करने पर इस विषय में जाना गया मेरा सत्य गलत साबित हो जाये। मैं उस नये सत्य को भी सत्य स्वीकार करने के लिए तत्पर हूँ। इसमें आग्रहशील या रूढ़िवादी नहीं हूँ।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अध्यात्म और विज्ञान—ये दो नहीं, अपितु एक ही विषय है। दोनों ही सूक्ष्म सत्यों की खोज करते हैं। सत्य की खोज के लिए अन्तर्दृष्टि का विकास, चिन्तन की एकाग्रता और निर्विचारता को आवश्यक मानते हैं। ‘अध्यात्म’ चेतना के नियम खोजता है और ‘विज्ञान’ पदार्थ के नियमों की खोज कर रहा है। किन्तु दोनों की खोज की प्रक्रिया प्रायोगिक है। विज्ञान और अध्यात्म दोनों ही क्षेत्रों में अनेक अनुसंधान किये गए हैं और सूक्ष्म उपलब्धियों को भी प्राप्त किया गया है, किन्तु आज अध्यात्म केवल सिद्धान्त का विषय रह गया है और विज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग विनाशकारी कार्यों में किया जा रहा है। परिणाम स्वरूप अनेक समस्याएँ सामने आ रही हैं। समस्याओं के समाधान हेतु आज आवश्यकता है—आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण की। आचार्य तुलसी ने एक गीत में लिखा—

कोरी आध्यात्मिकता युग को त्राण नहीं दे पायेगी,
कोरी वैज्ञानिकता युग को त्राण नहीं दे पायेगी,
दोनों की सम्यक् युति हो।

इस प्रकार आचार्य तुलसी ने आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व की परिकल्पना प्रस्तुत की। हर व्यक्ति वैज्ञानिक बने किन्तु कोरा वैज्ञानिक न बने, आध्यात्मिक-वैज्ञानिक बने। अध्यात्म के साथ उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक बने, वैज्ञानिक की भांति जीवन प्रायोगिक बने, दृष्टिकोण उदार बने और सत्य को जानने के लिए सदा अपने आपको समर्पित रखे।

आध्यात्मिक व्यक्ति भी सत्य की खोज करता है अतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ-साथ इन्द्रिय-मन पर नियन्त्रण, अनासक्त चेतना का विकास तथा सदा भावों की विशुद्धि रखे।

उपर्युक्त आध्यात्मिक और वैज्ञानिक व्यक्तित्व की कसौटियों के आधार पर जो व्यक्तित्व निर्मित होता है, वही आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व है। इस प्रकार के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आज सबसे ज्यादा अपेक्षा ग्रंथितंत्र और नाडीतंत्र के संतुलन की है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार 'जब हमारा ग्रन्थितंत्र और नाडीतंत्र संतुलित रहता है, तब आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है।' ग्रन्थितंत्र के संतुलन के लिए चैतन्य केन्द्र-प्रेक्षा तथा नाडीतंत्र के संतुलन के लिए समवृत्ति श्वासप्रेक्षा और दीर्घ श्वासप्रेक्षा के प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण हैं।

18.5 सारांश

इस प्रकार आचार्य महाप्रज्ञ ने जीवन-विज्ञान की शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण बताया है। दोनों की कुछ कसौटियाँ निर्धारित की गई हैं। उनके अनुसार अध्यात्म और विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं अतः दोनों का सापेक्ष विकास जरूरी है।

18.6 बोध प्रश्न

1. आध्यात्मिक-व्यक्तित्व की कसौटियाँ क्या हैं?
2. भाव-विशुद्धि कैसे प्राप्त की जा सकती है?
3. आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण कब होता है?

अभ्यास प्रश्नावली

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जीवन विज्ञान से पूर्व इसके लिए क्या-क्या नाम सोचे गए?
2. जीवन का अर्थ क्या है?
3. सकारात्मक भाव कौन-से हैं?
4. दायें मस्तिष्क का कार्य क्या है?
5. वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं?
6. नशामुक्ति के लिए किस केन्द्र पर ध्यान करना चाहिए?
7. श्वास-प्रशिक्षण के उपाय क्या हैं?
8. लेश्या कितनी है?
9. बौद्धिक मूल्यों के नाम लिखें।
10. प्रामाणिकता के तीन प्रकार कौन-से हैं?
11. मानवीय-एकता अनुप्रेक्षा की शब्दावली क्या है?
12. आत्मतुला का अर्थ क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मन किसे कहते हैं? मन को प्रशिक्षित करने के उपाय बताएँ।
2. सामाजिक मूल्यों का विवेचन करें।
3. वैज्ञानिक व्यक्तित्व की कसौटियाँ क्या हैं?
4. जीवन-विज्ञान का उद्देश्य क्या है?
5. प्राणधारा का संतुलन कैसे साधा जा सकता है?
6. शरीर किसे कहते हैं? शारीरिक प्रशिक्षण के उपाय क्या हैं?

निबंधात्मक प्रश्न

1. जीवन विज्ञान के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालें।
2. जीवन विज्ञान एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है, सिद्ध करें।
3. जीवन के सात अंगों का विवेचन करें।
4. जीवन विज्ञान में निर्धारित सोलह मूल्यों पर प्रकाश डालें।
5. मूल्य विकास की प्रक्रिया में अनुप्रेक्षा कैसे उपयोगी बनती है? समझाएँ।
6. आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का विवेचन करें।

संवर्ग-4 : अणुव्रत आन्दोलन

प्रस्तावना

भारतीय तत्त्व चिन्तकों ने मानव-जीवन की श्रेष्ठता और सार्थकता के उपायों पर गहराई से चिन्तन किया है। मनुष्य जीवन दुर्लभ है। इसके पीछे एक ही कारण है—मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता। आहार, निद्रा, भय आदि बातें सभी प्राणियों में समान रूप से पाई जाती हैं, किन्तु मनुष्य की यह विशेषता है कि वह अपने जीवन को समुन्नत बनाने के लिए नियम, व्रत आदि की आराधना, पालना कर सकता है। अपने विचारों एवं प्रवृत्तियों पर संयम का अंकुश लगा सकता है।

संयम के सन्दर्भ में भगवान महावीर ने गृहस्थ के लिए बारह व्रतों की एक आचार-संहिता दी। आचार्य तुलसी ने उसे आधुनिक सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जो अणुव्रत आन्दोलन के रूप में जानी जाती है। यह एक असाम्प्रदायिक धर्म है। जैन-अजैन जो भी एक अच्छा इन्सान बनना चाहते हैं, उन सबके लिए स्वीकार करने योग्य है। अणुव्रती व्यक्ति अर्थ का अर्जन करेगा पर ऐसे व्यवसाय का वर्जन करेगा, जो हिंसाबहुल हो। वह अर्थार्जन में अहिंसा और मनुष्य को केन्द्र में रखेगा। वह मांसाहार नहीं करेगा। अपनी संयममय जीवनशैली के द्वारा पर्यावरण के संतुलन में अपना योगदान देगा। प्रस्तुत संवर्ग में निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया जा रहा है—

इकाई-19 : अणुव्रत आन्दोलन

इकाई-20 : अणुव्रत : स्वस्थ समाज संरचना का आधार

इकाई-21 : अणुव्रत : आचार संहिता

इकाई-22 : अहिंसा का अर्थशास्त्र

इकाई-23 : शाकाहार

इकाई-24 : पर्यावरण संतुलन के उपाय।

उद्देश्य

इस संवर्ग का अध्ययन करने के बाद आप—

- ◆ अणुव्रत आन्दोलन की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- ◆ अणुव्रत स्वस्थ समाज संरचना में कैसे योगभूत बनता है, जान सकेंगे।
- ◆ अणुव्रत की आचार-संहिता को समझ सकेंगे।
- ◆ अहिंसा-प्रशिक्षण की प्रक्रिया से अवगत हो सकेंगे।
- ◆ अहिंसक दृष्टि से अर्थ का अर्जन कैसे संभव हो सकता है, समझ सकेंगे।
- ◆ शाकाहार के महत्त्व से परिचित हो सकेंगे।
- ◆ पर्यावरण संतुलन के उपायों को जान सकेंगे।

संरचना

- 19.1 अणुव्रत आन्दोलन
- 19.2 अणुव्रत आन्दोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 19.3 अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात
- 19.4 अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है
- 19.5 अणुव्रत : नैतिकता का आन्दोलन
- 19.6 अणुव्रत : अर्थ एवं परिभाषा
- 19.7 अणुव्रत का लक्ष्य
- 19.8 अणुव्रत के निदेशक तत्त्व
- 19.9 सारांश
- 19.10 बोध-प्रश्न

19.1 अणुव्रत आन्दोलन

भगवान् महावीर ने दो प्रकार के धर्म का प्रतिपादन किया—गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म। उन्होंने मुनि के लिए अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रतों के पालन का विधान किया तथा गृहस्थ के लिए अहिंसा, सत्य आदि बारह अणुव्रतों का विधान किया। ये अणुव्रत तत्कालीन समाज-व्यवस्था में व्याप्त विकारों को दूर करने में सक्षम थे। युग-परिवर्तन के साथ-साथ मूल्य भी बदलते गये। समस्याओं ने भी नवीन रूप धारण कर लिया। उनके निराकरण के लिए प्राचीन अणुव्रतों का विश्लेषण करना आवश्यक था। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित उसी अणुव्रत धर्म को आचार्य तुलसी ने युगीन संदर्भों में प्रस्तुत कर अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया।

19.2 अणुव्रत आन्दोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज से लगभग पांच दशक पूर्व तक, भारतवर्ष राजनैतिक दासता के घेरे में बंदी था। कुछ चिन्तनशील महापुरुषों ने देश को दासता की गिरफ्त से मुक्त कराने का संकल्प किया और उनके अथक प्रयासों के बाद भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए भारतवासियों में जो एकता थी, आजादी के बाद वह टूट गई। परिणामस्वरूप जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, अमीरी-गरीबी, मंहगाई आदि मौलिक समस्याओं के साथ-साथ अनुशासनहीनता, पद की लालसा, महत्वाकांक्षा, प्रान्तीयता और भाषायी विवाद जैसी समस्याओं से जनता का चरित्र विकृत और मानस उत्पीड़ित हो उठा। नैतिकता का ह्रास होने लगा। परिणाम स्वरूप एक नैतिक आन्दोलन की आवश्यकता महसूस की गई।

19.3 अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात

15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने संयुक्त रूप से शासन संभाला। हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इन दंगों में लाखों आदमी मौत के घाट उतरे। जातीयता का नग्न रूप सामने आया। स्त्रियों और बच्चों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया गया। ऐसी स्थिति उत्पन्न की गई कि आखिर हिन्दुस्तान विभक्त हो गया। चरित्र-पतन और अनुशासनहीनता से सभी का धैर्य विचलित हो रहा था। ऐसी विषम परिस्थितियों में 'अणुव्रत आंदोलन' सामने आया। आचार्य तुलसी ने प्रथम स्वतंत्रता दिवस पर 'असली आजादी अपनाओ' का शंखनाद किया। असली आजादी का अर्थ है—नैतिक विकास। उसका प्रायोगिक रूप है—अणुव्रत आन्दोलन। 2 मार्च, 1949 को सदारशहर में आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत की आचार-संहिता निर्धारित की और यह आह्वान किया कि यदि अणुव्रत की आचार-संहिता का पालन करने वाले कम से कम पच्चीस व्यक्ति मुझे मिल जाएँ तो मेरा विश्वास है कि इससे नैतिकता का नया आयाम

खुलेगा। प्रथम आह्वान में ही इकहत्तर (71) व्यक्ति अणुव्रती बने। प्रथम बार अणुव्रती बनने वालों के नाम उन्होंने स्वयं अपने हाथ से लिखे।

19.4 अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है

प्रत्येक धर्म के साथ सम्प्रदाय जुड़ा हुआ है। अणुव्रत का किसी सम्प्रदाय के साथ संबंध नहीं है। यह एक ऐसे धर्म की परिकल्पना है, जो धर्म हो, किन्तु सम्प्रदाय से जुड़ा न हो। अणुव्रत का संबंध नैतिकता से है। नैतिकता साम्प्रदायिक नहीं है। वह सबके लिए समान रूप से समादरणीय है। अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, अनेक सम्प्रदाय के लोगों द्वारा अणुव्रत की स्वीकृति। इस आन्दोलन में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी सम्मिलित हुए और उन्हें यह प्रतीत हुआ कि इसमें हमारे सम्प्रदाय अथवा धर्म से कोई विरुद्ध बात नहीं है। एक मुसलमान भाई ने आचार्य तुलसी से पूछा—मैं अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार करूँ तो क्या नमाज पढ़ सकता हूँ। आचार्य तुलसी ने कहा—उपासना में आप स्वतंत्र हैं, उससे हमारा कोई लेना-देना नहीं है। आपकी प्रतिबद्धता नैतिकता की आचार-संहिता के साथ है, किसी सम्प्रदाय के साथ नहीं है। अपने-अपने देव-गुरु-धर्म के प्रति आस्था रखते हुए व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। इसमें जाति, धर्म, रंग, स्त्री, पुरुष आदि का कोई विचार नहीं किया जाता है। जो भी एक इच्छा इन्सान और मानव बनना चाहता है, वह इसे स्वीकार कर सकता है। लाखों लोगों ने इसे स्वीकार किया।

19.5 अणुव्रत : नैतिकता का आन्दोलन है

धर्म और नैतिकता का परस्पर संबंध है, किन्तु लगता है आज नैतिकता विहीन धर्म को मान्यता मिल गई है। इसीलिए धार्मिक व्यक्ति भी अपने व्यापार या व्यवसाय में अप्रामाणिकता बरतता है। अणुव्रत ने इस भ्रान्ति को तोड़ने का प्रयास किया और एक नया स्वर दिया कि नैतिक बने बिना व्यक्ति धार्मिक नहीं बन सकता है। अणुव्रत नैतिकता का आन्दोलन है।

अणुव्रत के आधार पर नैतिकता का मानदण्ड है—संयम। जहाँ-जहाँ संयम है, वहाँ-वहाँ नैतिकता है। संयम के अभाव में नैतिकता नहीं हो सकती। इसीलिए इसका मूल मंत्र है—‘संयमः खलु जीवनम्’ संयम ही जीवन है। संयम के विकास के लिए आवश्यक है—मैत्री का विकास, इच्छाओं का सीमाकरण, भोगोपभोग का संयम, प्रामाणिकता और करुणा का विकास करना।

19.6 अणुव्रत : अर्थ एवं परिभाषा

शाब्दिक दृष्टि से अणु का अर्थ है ‘छोटा’ और व्रत का अर्थ है ‘नियम’। अणुव्रत छोटे-छोटे नियमों की एक आचार-संहिता है। भावात्मक दृष्टि से अणुव्रत का अर्थ है—

- ❖ चरित्र निर्माण की प्रक्रिया।
- ❖ सर्वसम्मत मानव-जीवन की आचार-संहिता।
- ❖ सम्प्रदाय-विहीन धर्म का प्रयोग।

‘अणुव्रत’ में सम्प्रदाय गौण है, धर्म तथा चरित्र मुख्य है। केवल अगले जीवन की चिन्ता गौण है, प्रायोगिक जीवन प्रधान है। साम्प्रदायिक मतवाद का आग्रह गौण है, सब धर्म-सम्प्रदायों के साथ सद्भाव का प्रयत्न मुख्य है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार—अणुव्रत चरित्र विकास के लिए किये जाने वाले छोटे-छोटे संकल्प हैं।

19.7 अणुव्रत का लक्ष्य

अणुव्रत आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य है—जीवन-मूल्यांकन के दृष्टिकोण और उसकी उच्चता के मापदण्ड को बदलना। चरित्र का न्यूनतम विकास सबमें हो क्योंकि चारित्रिक उच्चता के बिना मानव-समाज की सभ्यता और संस्कृति उच्च नहीं बन सकती। आचार्य तुलसी के शब्दों में—

- ❖ अणुव्रत-आन्दोलन का स्वरूप है—स्वनिष्ठा।

- ❖ अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय है — जीवन-शुद्धि।
- ❖ अणुव्रत-आन्दोलन का आदर्श है — चरित्र का उत्कर्ष।
- ❖ चरित्र-अपकर्ष के हेतु हैं — बहुभोग, बहु-परिग्रह और बहु-हिंसा।
- ❖ चरित्र-उत्कर्ष के हेतु हैं — भोग-अल्पता, परिग्रह-अल्पता और हिंसा-अल्पता।
- ❖ आदर्श प्राप्ति के साधन हैं — अणुव्रत।

अणुव्रत का लक्ष्य है —

- ❖ जाति, रंग, सम्प्रदाय, देश और भाषा का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की प्रेरणा देना।
- ❖ मैत्री, एकता, शान्ति, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना।
- ❖ अहिंसक समाज की संरचना करना।

19.8 अणुव्रत के निदेशक तत्त्व

आंदोलन के प्रारम्भ में नियमों की संख्या तेरह थी, जो बढ़कर छियासी हो गई। सन् 1958 में अणुव्रतों की संख्या में फिर परिवर्तन किया गया। इस अवसर पर व्रतों की भाषा का परिष्कार किया गया। अणुव्रतियों के लिए तीन श्रेणियाँ बनाई गईं—प्रवेशक अणुव्रती, अणुव्रती और विशिष्ट अणुव्रती। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियमों का विधान किया गया। अणुव्रती के लिए अणुव्रतों के साथ उसके शील और चर्या का पालन भी करना होता है। विशेष संयम का जीवन जीने वाले विशिष्ट अणुव्रती कहलाए।

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व, अणुव्रत की आचार-संहिता तथा वर्गीय अणुव्रत निम्नलिखित हैं—

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व

1. दूसरों के अस्तित्व के प्रति संवेदनशीलता।
2. मानवीय एकता।
3. सह-अस्तित्व की भावना।
4. साम्प्रदायिक सद्भावना।
5. अहिंसात्मक प्रतिरोध।
6. व्यक्तिगत संग्रह और भोगोपभोग की सीमा।
7. व्यवहार में प्रामाणिकता।
8. साधन-शुद्धि में आस्था।
9. अभय, तटस्थता और सत्यनिष्ठा।

19.9 सारांश

इस प्रकार अणुव्रत आन्दोलन आचार्य तुलसी के द्वारा चलाया गया एक नैतिकता का आन्दोलन है। इसमें अणुव्रती बनने के लिए तात्त्विक दृष्टि से सम्यक् दृष्टि का प्राप्त होना अनिवार्य नहीं। किसी भी धर्म जाति में विश्वास करने वाला इसे अपना सकता है। इसका मुख्य ध्येय चरित्र-निर्माण करना है।

19.10 बोध प्रश्न

1. अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात कब और कहाँ हुआ?
2. अणुव्रत का अर्थ क्या है?
3. अणुव्रत स्वीकार करने वालों की कितनी श्रेणियाँ हैं?

संरचना

- 20.1 अणुव्रत स्वस्थ समाज का आधार
- 20.2 हिंसा समाधान नहीं
- 20.3 मानवीय एकता में विश्वास
- 20.4 दूसरों के श्रम का अशोषण
- 20.5 मानवीय संबंधों का विकास
- 20.6 सत्ता एवं अर्थ का विकेन्द्रीकरण
- 20.7 वैचारिक सहिष्णुता
- 20.8 करुणा का विकास
- 20.9 आहारशुद्धि और व्यसन-मुक्ति
- 20.10 सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार
- 20.11 सारांश
- 20.12 बोध-प्रश्न

20.1 अणुव्रत : स्वस्थ समाज संरचना का आधार

मनुष्य अकेला जन्म लेता है किन्तु समाज में रहना उसका स्वभाव है। इसीलिए अरस्तू ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा है। समाज एक ऐसी इकाई है, जहाँ सभी व्यक्ति माला के मनकों की तरह एक-दूसरे से अनुबंधित रहते हैं, किन्तु जहाँ अनुबंधों में दरार पैदा होती है, वहाँ स्वस्थ समाज की कल्पना साकार नहीं होती। आचार्य तुलसी ने 'अणुव्रत' के माध्यम से स्वस्थ समाज संरचना की बात कही।

'अणुव्रत' स्वस्थ समाज संरचना का आधार है। उनके अनुसार समाज की स्वस्थता के लिए मानवीय एकता की भावना अति आवश्यक है। मानवीय एकता के चार आधार सूत्र हैं—नैतिकनिष्ठा, प्रेम, सहानुभूति और अनाग्रही दृष्टिकोण।

नैतिकनिष्ठा के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी के हितों का विघटन करता है। उसका शोषण करता है।

प्रेम के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी से घृणा करता है। उसे हीन मानता है, तिरस्कृत करता है।

सहानुभूति के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी की कठिनाइयों की उपेक्षा करता है। अपने ही सुख-दुःख की समस्या को प्राथमिकता देता है।

अनाग्रही दृष्टिकोण के अभाव में मनुष्य वैचारिक स्वतन्त्रता का हनन करता है। मतभेद के आधार पर एक-दूसरे को कुचलने का प्रयत्न करता है। परिणामस्वरूप समाज रुग्ण बनता है। आचार्य तुलसी ने स्वस्थ समाज संरचना के कुछ सूत्र प्रस्तुत किये, जो निम्नलिखित हैं—

1. हिंसा समस्या का समाधान नहीं, इस आस्था का निर्माण।
2. मानवीय एकता में विश्वास।
3. दूसरों के श्रम का अशोषण।
4. मानवीय सम्बन्धों का विकास।
5. सत्ता एवं अर्थ का विकेन्द्रीकरण।
6. वैचारिक-सहिष्णुता।

7. जीवन-व्यवहार में करुणा का विकास।
8. आहार-शुद्धि और व्यसनमुक्ति।
9. सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार।

20.2 हिंसा समाधान नहीं

स्वस्थ समाज संरचना के लिए पहली आवश्यकता है—अहिंसक चेतना का जागरण। समाज में जीने वाले एक गृहस्थ के लिए आवश्यक हिंसा और सूक्ष्म हिंसा से बच पाना असंभव है। वह इससे मुक्त नहीं हो सकता। जीवन को चलाने के लिए उसे हिंसा का सहारा लेना पड़ता है। किन्तु जब व्यक्ति अपनी हर समस्या का समाधान हिंसा से करने का प्रयास करता है तो समाज में अनैतिकता, भ्रष्टाचार और आतंकवाद जैसी समस्याएँ बढ़ती हैं। परिणामस्वरूप समाज स्वस्थ नहीं अपितु रुग्ण बनता है। स्वस्थ समाज संरचना के लिए आवश्यक है इस आस्था का निर्माण करना कि हिंसा समस्या का स्थायी समाधान नहीं है। स्थायी समाधान है—अहिंसा। सामाजिक आदमी पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकते पर उसकी आस्था अहिंसा में हो यह आवश्यक है। समाज में जितना-जितना अहिंसा का विकास होगा, मैत्री-प्रेम, भाईचारे की भावना का भी उतना ही विकास होगा और स्वस्थ समाज की परिकल्पना साकार होगी।

20.3 मानवीय एकता में विश्वास

स्वस्थ समाज संरचना का दूसरा सूत्र है—मानवीय एकता में विश्वास। भूगोल और इतिहास की दृष्टि से देखें तो आज मानव-समाज कई भागों में बंटा हुआ है। एक ही धरती पर कई राष्ट्रों की सीमाएँ खड़ी हैं। भविष्य में भी इस भेद को मिटाया जा सके, संभव नहीं लगता। फिर भी मानवीय एकता में यदि विश्वास किया जाए तो भावात्मक दूरियों को समाप्त किया जा सकता है। वर्ण, जाति, रंग के आधार पर घृणा और अहंकार का जो भाव विकसित हो रहा है, उसे दूर किया जा सकता है। अतः मानवीय एकता में विश्वास स्वस्थ समाज संरचना का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

20.4 दूसरों के श्रम का अशोषण

जिस समाज में दूसरों के श्रम का सम्मान नहीं होता, मूल्यांकन नहीं होता अपितु शोषण होता है, वह समाज स्वस्थ नहीं रह सकता। समाज-रचना के बारे में एक मान्यता मात्स्य न्याय की रही है। उसके अनुसार बड़ी मछली हमेशा छोटी मछली को निगलकर ही अपना अस्तित्व कायम रख सकती है। उसी प्रकार बड़े आदमी छोटे या अधीनस्थ कर्मचारियों का शोषण कर ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते हैं। किन्तु स्वस्थ समाज संरचना के लिए यह उचित नहीं है। आदमी का अस्तित्व तो परस्परप्रग्रह की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित हो सकता है। एक मनुष्य का हित दूसरे के विरोध में नहीं अपितु सहयोग में ही निहित है। भले ही कुछ लोग अपने बौद्धिक सामर्थ्य से कुछ गरीब लोगों के श्रम का शोषण कर एक बार बड़े बन जाएँ, पर यह व्यवस्था बहुत लम्बी नहीं चल सकती और स्वस्थ समाज का निर्माण भी नहीं कर सकती। दूसरी ओर यदि आदमी दूसरों के श्रम का शोषण न कर उसका सम्मान करे तो न केवल वह स्वयं ही शांति का जीवन जीता है अपितु दूसरों के लिए भी शांत जीवन की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। समाज में स्वस्थ वातावरण का निर्माण करता है।

20.5 मानवीय संबंधों का विकास

स्वस्थ समाज संरचना का चौथा सूत्र है—मानवीय संबंधों का विकास। आज ऐसा लगता है कि मानवीय संबंधों में बहुत नीरसता और कटुता आ गई है। अधिकारी और कर्मचारी, मालिक और नौकर के पारस्परिक संबंधों में समानता की अनुभूति नहीं है, जिसका परिणाम है आए दिन हड़ताल, तालाबन्दी, अप्रामाणिक व्यवहार। आज भाई-भाई के बीच, बाप-बेटे के बीच भी मानवीय संबंधों का ह्रास हो रहा है। परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, खून के रिश्तों में दरार पड़ रही है। मानवीय संबंधों का विकास जहाँ अनेक समस्याओं का समाधान है, वहीं स्वस्थ समाज संरचना का भी आधार है।

20.6 सत्ता एवं अर्थ का विकेन्द्रीकरण

सत्ता और अर्थ समाज-रचना के दो प्रमुख संघटक हैं। ये दोनों जितने विकेन्द्रित होते हैं, उतनी ही समाज व्यवस्था अच्छी होती है और ये दोनों जितने केन्द्रित होते हैं, उतनी ही अव्यवस्था फैलती है। एक समय था जब साम्राज्यवाद को प्रतिष्ठा प्राप्त थी। किन्तु अपने केन्द्रित स्वरूप के कारण आज वह अप्रतिष्ठित और अप्रासंगिक बन गया है। उसका स्थान आज लोकतंत्र ने ले लिया है पर लोकतंत्र की सफलता भी इसी पर निर्भर है कि वह सत्ता और अर्थ को ज्यादा से ज्यादा विकेन्द्रित करे। जब भी ये दोनों सीमित हाथों में केन्द्रित होते हैं तो संघर्ष बढ़ता है अतः आवश्यक है कि इन दोनों को इस तरह विकेन्द्रित कर दिया जाए कि न तो सत्ता शीर्ष पर कुछ लोगों का अधिकार हो और न ही पूंजी कुछ लोगों के हाथों में सिमटकर रहे। इस दिशा में किया गया प्रस्थान समाज को स्वस्थ बनाने की दिशा में किया गया प्रस्थान होगा।

20.7 वैचारिक सहिष्णुता

जिस समाज में अपने विचारों को सही मानने का आग्रह होता है तथा दूसरों के विचारों को सहन करने की मनोवृत्ति नहीं होती, वह समाज विकास की दिशा में चरणन्यास नहीं करता। समाज में सबके विचार समान हो जाएँ यह भी संभव नहीं हो सकता। अतः सामाजिक स्वस्थता के लिए वैचारिक सहिष्णुता एक महत्वपूर्ण घटक है।

20.8 करुणा का विकास

जिस समाज में करुणा का विकास नहीं होता, वह स्वस्थ समाज नहीं होता। करुणा का विकास संवेदनशीलता से होता है। जिस व्यक्ति में संवेदना जितनी ज्यादा होती है, उसमें करुणा का विकास भी उतना ही अधिक होगा। करुणावान व्यक्ति न केवल मनुष्य के प्रति अपितु संसार के सभी प्राणियों के प्रति संवेदनशील बनता है।

20.9 आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति

आहार मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण का एक महत्वपूर्ण घटक है। वह न केवल शरीर का ही पोषक है अपितु वृत्तियों के निर्माण में भी उसकी अहं भूमिका है। जैसा आहार होता है, वैसा ही विचार और व्यवहार होता है अतः स्वस्थ समाज संरचना में आहार-शुद्धि अति आवश्यक है। 'नशा' जीवन का नाश करता है। नशे से न केवल आदमी का स्वास्थ्य बिगड़ता है अपितु उसकी चेतना भी विकृत बनती है। नशे में व्यक्ति को करणीय-अकरणीय का विवेक नहीं रहता। यह अर्थ-व्यवस्था को भी प्रभावित करता है। समाज में बढ़ते हुए अपराधों का एक बहुत बड़ा कारण है—व्यसन। अतः व्यसन-मुक्ति से ही स्वस्थ समाज की कल्पना साकार हो सकती है।

20.10 सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार

स्वस्थ समाज वह होता है, जहाँ अंधविश्वासों तथा अंधरूढ़ियों को आदर नहीं मिलता। जब अंधविश्वास परम्परा बन जाते हैं तब अंधरूढ़ियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। स्वस्थ समाज व्यवस्था सचेतन समाज व्यवस्था है। वहाँ किसी बात का मूल्य परम्परा नहीं अपितु उसकी गुणवत्ता से होता है अतः रूढ़ियों से मुक्त समाज-व्यवस्था ही स्वस्थ समाज-व्यवस्था हो सकती है।

20.11 सारांश

इस प्रकार अणुव्रत स्वस्थ समाज संरचना का आधार है। आचार्य तुलसी ने स्वस्थ समाज के कुछ सूत्र प्रस्तुत किये हैं, जिनका आचरण करके रुग्ण समाज को स्वस्थ बनाया जा सकता है।

20.12 बोध प्रश्न

1. मानवीय एकता के आधार सूत्र क्या हैं?
2. वैचारिक सहिष्णुता से क्या तात्पर्य है?
3. अपराध का एक बहुत बड़ा कारण क्या है?

संरचना

- 21.1 अणुव्रत : आचार संहिता
- 21.2 अणुव्रत का अर्थ
- 21.3 आचार संहिता
- 21.4 आचार संहिता की प्रासंगिकता
- 21.5 सारांश
- 21.6 बोध-प्रश्न

21.1 अणुव्रत की आचार संहिता

भगवान महावीर ने दो प्रकार के धर्म का प्रतिपादन किया—गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म। उन्होंने मुनि के लिए अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रतों के पालन का विधान किया तथा गृहस्थ के लिए अहिंसा, सत्य आदि बारह अणुव्रतों का विधान किया। अणुव्रती बनने के लिए सम्यक् दृष्टि का होना अनिवार्य माना गया। व्यावहारिक दृष्टि से देव-गुरु-धर्म के प्रति आस्था रखने वाला सम्यक् दृष्टि होता है तथा नैश्चयिक दृष्टि से अनन्तानुबंधी की चार तथा दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम करने वाला सम्यक् दृष्टि होता है। ये अणुव्रत तत्कालीन समाज-व्यवस्था में व्याप्त विकारों को दूर करने में सक्षम थे। युग-परिवर्तन के साथ-साथ मूल्य भी बदलते गये। समस्याओं ने भी नवीन रूप धारण कर लिया। उनके निराकरण के लिए प्राचीन अणुव्रतों का विश्लेषण करना आवश्यक था। भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उसी अणुव्रत धर्म को आचार्य तुलसी ने युगीन सन्दर्भों में प्रस्तुत कर अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया, जो कि नैतिकता का आन्दोलन है। इसे कोई भी व्यक्ति जो नैतिकता में आस्था रखता है, स्वीकार कर सकता है।

21.2 अणुव्रत : अर्थ

अणुव्रत दो शब्दों से बना है—अणु+व्रत। अणु शब्द का अर्थ है—छोटा और व्रत का अर्थ है—नियम। अतः सम्पूर्ण रूप से अणुव्रत का अर्थ है—छोटे-छोटे नियम।

मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिशाली प्राणी है। उसमें अनेक अवगुण भी हैं किन्तु उसके पास वह शक्ति भी विद्यमान है, जिससे वह अपने समस्त अवगुणों का स्वयं या किसी के बताने पर परित्याग कर सकता है। संकल्प के द्वारा वह अपने आपको बदल सकता है। इस अर्थ में अणुव्रत का अर्थ है—चारित्रिक विकास के लिए किये जाने वाला संकल्प।

21.3 अणुव्रत : आचार संहिता

1. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।
 - आत्म-हत्या नहीं करूंगा।
 - भ्रूण-हत्या नहीं करूंगा।
2. मैं आक्रमण नहीं करूंगा।
 - आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा।
 - विश्व-शांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।
3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।

4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा।
 - जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूंगा।
 - अस्पृश्य नहीं मानूंगा।
5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा।
 - साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊंगा।
6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूंगा।
 - अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊंगा।
 - छलनापूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा।
7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूंगा।
8. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
9. मैं सामाजिक कुरूपियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
10. मादक तथा नशीले पदार्थ- शराब, गांजा, चरस, हिरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूंगा।
11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।
 - हरे-भरे वृक्ष नहीं काटूंगा।
 - पानी का अपव्यय नहीं करूंगा।

21.4 आचार-संहिता की प्रासंगिकता

अणुव्रत का आचरण एक अर्थ में सम्यक् दृष्टि का विकास है। चूंकि अणुव्रत सर्वप्रथम मनुष्य के मस्तिष्क की धुलाई करता है, उसके मस्तिष्क में प्रतिष्ठित प्रतिस्पर्धा, अप्रामाणिकता, संग्रह आदि के भावों को मिटाने का प्रयास करता है। अतः अणुव्रत के ग्यारह नियमों की प्रासंगिकता स्वयंसिद्ध है।

1. मैं निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करूंगा

अणुव्रत का यह सबसे पहला नियम है। किसी भी समाज-निर्माण के लिए यह महत्वपूर्ण तत्व है। इस तत्व की पुष्टि होने से ही देश, समाज, राष्ट्र में अहिंसा का वातावरण निर्मित हो सकता है और अहिंसा के प्रति आस्था का जागरण हो सकता है। हिंसा के कारण समाज में विद्वेष, शत्रुता, परस्पर में कटुता आदि भाव जागृत होते हैं। ये भाव व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक दोनों ही स्तर पर हानि पहुंचाते हैं। भ्रूणहत्या एक निकृष्टतम कार्य है। उन निर्दोष कन्याओं को, जिन्हें संसार में आने से पहले ही बेरहमी से खत्म कर दिया जाता है, उन्हें बचाया जा सकता है। इस नियम में ऐसी शक्ति है जिसे अपनाकर पशु-हत्या को तिलांजली दी जा सकती है। इस व्रत का आधार है—अहिंसा का विकास। इसकी भावना है—करुणा। इसे व्यापक बना दिया जाए तो व्यक्ति में क्रूरता के भावों को समाप्त कर करुणा के भावों को विकसित किया जा सकता है। परिणाम स्वरूप समाज, देश, राष्ट्र में भ्रूणहत्या, आत्महत्या की समस्या तो समाप्त हो ही सकती है साथ ही साथ विलासी मनोवृत्ति, बढ़ती हुई सुविधावादी वृत्ति पर भी अकुंश लगाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान एवं निःशस्त्रीकरण का विकास हो सकता है। सामंजस्यपूर्ण सहवास एवं विश्वशान्ति की कल्पना अहिंसा से ही संभव है।

2. आक्रमण नहीं करना, आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करना

अणुव्रत का दूसरा नियम है आक्रमण नहीं करना और न आक्रामक नीति का समर्थन करना। ये नियम स्वस्थ समाज-निर्माण के लिए आवश्यक तत्व हैं। आचार्य तुलसी के अनुसार आक्रमण एक मनोवृत्ति है। इसकी उत्पत्ति में अनेक घटक तत्व निमित्त बनते हैं। भय की प्रेरणा से आक्रामक मनोवृत्ति का उद्भव होता है। लोभ, क्रोध, क्षोभ आदि वृत्तियां भी इसका हेतु बनती हैं। अपने वर्तमान की सुरक्षा के साथ भविष्य की असुरक्षा से बचाव करने तथा अपने सुख-सुविधा को विस्तार देने के लिए मनुष्य आक्रामक बन जाता है।

अतः अनाक्रमण की वृत्ति को सिंचन देना अत्यावश्यक है। अनाक्रमण की वृत्ति के फलस्वरूप ही मानवीय शान्ति, जातीय शान्ति, राष्ट्रीय शान्ति, विश्व शान्ति संभव है। शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद के उद्योग-धन्धों का नियन्त्रण करना भी अनाक्रमण की भावना को विकसित करने के लिए आवश्यक है। राष्ट्रहित की दृष्टि से आक्रामक नीति और उसका समर्थन दोनों ही स्थितियाँ ठीक नहीं हैं। अणुव्रत के सहयोग से अनाक्रमण की वृत्ति को विकसित किया जा सकता है।

3. मैं हिंसात्मक तोड़फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा

समाज निर्माण का एक महत्वपूर्ण घटक है—मैं हिंसात्मक तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा। आज के युवा कर्मचारी वर्ग अपनी मांगों को मनवाने के लिए तथा कभी-कभी अन्य कारणों से हिंसात्मक तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियाँ करते और करवाते हैं। ऐसी प्रवृत्तियों के दौरान बहुत से निर्दोष लोगों को बेमौत मार दिया जाता है। कितने घर अकारण जला दिये जाते हैं। इन हरकतों के दौरान अनेक समस्याओं का सामना समाज एवं देश को करना पड़ता है। यदि उपरोक्त व्रत को ग्रहण किया जाए तो समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की उच्छृंखलता एवं उद्वण्डता दूर हो सकती है। तथा इस व्रत के द्वारा अनुशासन, धैर्य, समता, शान्ति, विनम्रता आदि मानव मूल्यों को विकसित किया जा सकता है। इस व्रत के द्वारा जनहानि, धनहानि तथा अनावश्यक अपव्यय को भी काफी सीमा तक रोका जा सकता है।

4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा। जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूंगा

समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह मानवीय एकता में विश्वास करे। जब तक इस दिशा में विकास नहीं होता तब तक मानव जाति का उत्थान नहीं होता। उपयोगितावाद ने मनुष्य जाति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्गों में विभाजित किया है, परन्तु ये वास्तविक नहीं हैं। जब इन्हें वास्तविक मान लिया जाता है तब अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं और हो रही हैं। अयोग्य व्यक्ति उच्च पदों पर आसीन होते हैं और योग्य सड़कों पर रोजगार पाने हेतु भटकते हैं। एक ही चमड़ी वाले दो व्यक्ति स्पृश्य और अस्पृश्य कहलाते हैं, जो निश्चय दृष्टि से एक जघन्य अपराध है। अणुव्रत के इस नियम को अपनाकर तथा इसे व्यापक स्तर प्रदान किये जाने पर समाज में छुआछूत, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, वर्ण, जाति आदि की समस्या को दूर कर मनुष्य-मनुष्य में एकता और अखण्डता आदि की भावना को उजागर किया जा सकता है।

5. धार्मिक सहिष्णुता रखना तथा साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाना

धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। जिस उपाय से आत्मा की शुद्धि होती है, वह धर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच धर्म के साधन हैं, इसके सिवाय दूसरा कोई धर्म नहीं है। कोई धर्म ऐसा नहीं कहता कि हिंसा करो, झूठ बोलो, चोरी करो। फिर भी मनुष्य ने धर्म को सम्प्रदाय के आधार पर बाँट दिया—बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इसाई धर्म आदि-आदि। सम्प्रदाय गलत नहीं है। परन्तु धर्म के नाम पर अपने-अपने सम्प्रदाय को लेकर लड़ना-झगड़ना गलत है। धर्म जहाँ शान्ति का संदेश देता है वही धर्म के नाम पर कलह, वैमनस्य का वातावरण निमित्त करना अनुचित है। अन्य सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु रहकर ही सुख और शान्ति के वातावरण का निर्माण किया जा सकता है। सम्प्रदाय भिन्न होने पर भी परस्पर सौहार्द से रहने वाला समाज विकास की ऊँचाइयों को छूता है। सामाजिक विघटन का एक बहुत बड़ा कारण है—साम्प्रदायिकता। इस व्रत के द्वारा अन्य सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु रहकर परस्परता, सौहार्द एवं सामंजस्य की पौध को हरा-भरा किया जा सकता है।

6. व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिकता रखना

व्यवसाय में आर्थिक अपराध, भ्रष्टाचार, घोटाले, तोल-माप में कमी-बेसी, धोखाधड़ी, मिलावट आदि होते हैं। यह एक जघन्य अपराध है। स्वयं की स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरों की अवहेलना करना, शोषण करना अनुचित है। इससे समाज में अनेक समस्याएं पैदा होती हैं। आचार्य तुलसी ने कहा—वही समाज उन्नत हो सकता है, जिस समाज

में व्यवस्था और व्यवहार में प्रामाणिकता होती है। आजीविका हेतु व्यवसाय करना सामाजिक प्राणी के लिए अनिवार्य है परन्तु नैतिकता का उल्लंघन कर किया गया व्यवसाय देश, समाज व राष्ट्र में समस्या पैदा करता है। वर्तमान समय में इन समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए अणुव्रत का छटा नियम उपादेय है।

7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा करूँगा

जिस समाज में काम पर नियन्त्रण किया जाता है, वह स्वस्थ समाज है। सामाजिक स्वस्थता के लिए ब्रह्मचर्य की साधना या ब्रह्मचर्य की सीमा बहुत जरूरी है। वर्तमान में उन्मुक्त भोग के कारण ही एड्स जैसी बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। पारिवारिक विघटन का भी एक बहुत बड़ा कारण है स्वयं की पत्नी/पति तक सीमित न रहना। बलात्कार जैसे घृणित कार्य की बढ़ती संख्या का कारण भी वासना के ऊपर नियन्त्रण न किया जाना ही है। यदि स्वस्थ समाज का निर्माण करना है और इन समस्याओं से छुटकारा पाना है तो हमें इस व्रत को स्वीकार करना होगा। संग्रह की वृत्ति जितनी अधिक होती है, व्यक्ति उतना ही क्रूर बन जाता है। क्रूर व्यक्ति हिंसा करता है, समाज में आतंक फैलाता है। नियन्त्रित आवश्यकता और नियन्त्रित उपभोग से समाज में करुणा का जन्म होता है। करुणा स्वस्थ वातावरण का निर्माण करती है। अतः आज इस प्रतिस्पर्धा के युग में संग्रह की सीमा करना अत्यावश्यक है।

8. चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करूँगा

जनतन्त्र का सबसे महत्वपूर्ण पहलू चुनाव है। जनतन्त्र में स्वस्थ मूल्यों को बनाए रखने के लिए चुनाव की स्वस्थता आवश्यक है। चुनाव का समय देश के भविष्य निर्धारण का समय है। लोभ दिखाकर लोकमत प्राप्त करना, चुनाव के सही अर्थ का लोप करना है। चुनाव चाहे संसद के हों, विधानसभा के हों, महाविद्यालय के हों या अन्य सभा और संस्थाओं के, जहाँ नीति खराब हो जाती है वहाँ महासमर खड़ा हो जाता है। जिस चुनाव में प्रवंचना, आडम्बर, पक्षपात, अनावश्यक अर्थ का अपव्यय होता है। वहाँ समाज, देश व राष्ट्र का आर्थिक ढाँचा चरमरा जाता है। आज हमारे देश में बढ़ते घोटाले व भ्रष्टाचार के जिम्मेवार व्यक्ति स्वयं ही हैं क्योंकि वे चुनावों में अनैतिकता को मान्यता देते हैं। जिसके कारण देश की बागडोर ऐसे लालची एवं भ्रष्ट लोगों के हाथ लग जाती है जो देश को नष्ट करके छोड़ते हैं। अतः अपेक्षा है आज अणुव्रत का आठवाँ नियम व्यापक स्तर पर लागू किया जाए और देश का प्रत्येक नागरिक इसे सहृदय स्वीकार करे।

9. सामाजिक कुरीतियों को प्रश्रय नहीं दूँगा

समाज निर्माण में कुरुद्धि भी बाधक होती है। रूढ़ि का अर्थ है—एक वस्तु, विचार या परम्परा का स्थिरीकरण अथवा जड़ें जमाना। कार्य-निष्पत्ति की दृष्टि से रूढ़ि अनिवार्य है और एक सहज प्रक्रिया है, परन्तु रूढ़ि उस स्थिति में कुरुद्धि बन जाती है, जब उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जिसकी उपयोगिता समाप्त हो गई, उस विचार या परम्परा को निभाने का आग्रह कुरुद्धि है। आज भी हमारे समाज में मृत्युभोज, बालविवाह, पर्दाप्रथा, दहेज प्रथा जैसी अनेक कुरुद्धियाँ प्रचलित हैं। इनसे मुक्त होने के लिए अणुव्रत का यह व्रत अत्यावश्यक है।

10. मैं व्यसन मुक्त जीवन जीऊँगा। मादक तथा नशीले पदार्थ शराब, गांजा, चरस, हिरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूँगा

अणुव्रत का दसवाँ नियम आज अत्यन्त अपेक्षित है। क्योंकि आज हमारे समाज के छोटे-छोटे बालक भी मादक पदार्थों का सेवन करना अपनी शान समझते हैं। मद्यपान एक ऐसी बुराई है, जिसकी उपस्थिति में अन्य अनेक बुराइयाँ मनुष्य पर हावी हो जाती हैं। व्यक्ति की तेजस्विता एवं यशस्विता खत्म हो जाती है। शराब से जहाँ स्वास्थ्य, मन-मस्तिष्क और इज्जत पर दुष्प्रभाव पड़ता है वही चरस, हिरोइन आदि के सेवन से विवेक शक्ति समाप्त होती है, स्नायविक दुर्बलता बढ़ती है, जीवनी शक्ति क्षीण होती है, चिन्तन शक्ति घटती है, अपराधी मनोवृत्ति जन्म लेती है। अतः आज की युवापीढ़ी को इन मादक द्रव्यों के सेवन से बचाना बहुत जरूरी है। इसके लिए उक्त नियम ग्रहणीय है।

11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा। हरे भरे वृक्ष नहीं काटूंगा

पर्यावरण की समस्या आज के युग की ज्वलंत समस्या है। आज जंगलों की अंधाधुंध कटाई होने के कारण पर्याप्त मात्रा में शुद्ध ऑक्सीजन उपलब्ध नहीं हो रहा है। शुद्ध ऑक्सीजन के अभाव में प्रायः व्यक्तियों को शारीरिक और मानसिक बीमारियों का सामना करना पड़ रहा है।

खनिज पदार्थों का अतिमात्रा में दोहन होने से प्राकृतिक प्रकोप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प और बाढ़ जैसी समस्याएं आए दिन परेशान करती हैं। पानी का अनावश्यक अपव्यय होने से अनेक व्यक्तियों को पेयजल उपलब्ध नहीं हो पा रहा है।

ऐसी अवस्था में व्यक्ति कैसे स्वस्थ जीवन जीए? समाधान एक ही है समाज का प्रत्येक सदस्य पर्यावरण की सुरक्षा के लिए अणुव्रत के ग्यारहवें नियम को धारण करे।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अणुव्रत के ग्यारह नियमों की प्रासंगिकता आज स्वयं सिद्ध है। इन नियमों का पालन किये बिना समाज, देश व राष्ट्र का उत्थान नहीं हो सकता।

21.5 सारांश

इस प्रकार आचार्य तुलसी ने मानव-मात्र के लिए एक आचार-संहिता दी जो अणुव्रत की आचार संहिता के नाम से जानी जाती है। इसमें ग्यारह नियम हैं। व्यक्तिगत विकास और सामाजिक विकास में इन नियमों की प्रासंगिकता को नकारा नहीं जा सकता।

21.6 बोध प्रश्न

1. अणुव्रत के कोई दो नियम लिखें।
2. सामाजिक विघटन का मूल कारण क्या है?
3. सामाजिक कुरीतियाँ कौन-सी हैं?

इकाई-22 : अहिंसा-प्रशिक्षण

संरचना

- 22.1 अहिंसा-प्रशिक्षण
- 22.2 अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम
- 22.3 हृदय परिवर्तन
- 22.4 दृष्टिकोण परिवर्तन
- 22.5 जीवनशैली-परिवर्तन
- 22.6 आजीविका शुद्धि और प्रशिक्षण
- 22.7 सारांश
- 22.8 बोध-प्रश्न

22.1 अहिंसा प्रशिक्षण

अहिंसा के विकास के लिए अहिंसा के सिद्धान्त को समझना ही पर्याप्त नहीं अपितु उसके लिए प्रयोग करना आवश्यक है। आज विश्व में हिंसा के प्रशिक्षण के लिए अरबों-खरबों रुपये खर्च किये जा रहे हैं। विधिवत् हिंसा का प्रशिक्षण दिया जा रहा है किन्तु अहिंसा-प्रशिक्षण पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। परिणामस्वरूप समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। आचार्य

तुलसी के अनुसार हिंसा के मुकाबले में अहिंसा की शक्ति कम नहीं है, अपेक्षा है उस शक्ति को जानने की। उनका मानना है मनुष्य के मस्तिष्क में जो हिंसा के केन्द्र हैं, उनका परिष्कार करने के लिए और अहिंसा के केन्द्र को जागृत करने के लिए प्रशिक्षण और प्रयोग की आवश्यकता है। प्रशिक्षण का संबंध उपदेश से नहीं, आचरण से है। हिंसा मत करो यह उपदेश है किन्तु जीवन-व्यवहार में अहिंसा का होना आचरण है। आचरण के लिए अहिंसा का विधिवत् प्रशिक्षण होना आवश्यक है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयाम प्रस्तुत किये हैं।

22.2 अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयाम

अहिंसा-प्रशिक्षण के मुख्य चार आयाम हैं —

1. हृदय-परिवर्तन, 2. दृष्टिकोण-परिवर्तन, 3. जीवनशैली-परिवर्तन, 4. आजीविकाशुद्धि-प्रशिक्षण।

22.3 हृदय-परिवर्तन

अहिंसा-प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है — हृदय-परिवर्तन। हृदय का साधारणतया अर्थ हार्ट (Heart) किया जाता है। यहां हृदय-परिवर्तन का अर्थ है — भाव-परिवर्तन। आयुर्वेद के अनुसार हृदय दो हैं — एक फुफ्फुस के नीचे और दूसरा मस्तिष्क में। हमारे भावों का उद्गम स्थल मस्तिष्क का एक भाग लिम्बिक संस्थान है, अतः हृदय-परिवर्तन को मस्तिष्कीय प्रशिक्षण भी कहा जा सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार हृदय-परिवर्तन का तात्पर्य निषेधात्मक भावों को समाप्त कर विधायक भावों को जगाने से है। राग-द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि निषेधात्मक भाव हैं। मैत्री, करुणा, दया, प्रेम आदि विधेयात्मक भाव हैं। निषेधात्मक भाव हिंसा को जन्म देते हैं। सामान्यतया यह समझा जाता है कि आदमी परिस्थितिवश हिंसा करता है। पर वास्तव में परिस्थिति ही हिंसा का कारण नहीं है। बहुत बार परिस्थिति होने पर भी व्यक्ति उत्तेजित-हिंसक नहीं बनता और बहुत बार परिस्थिति नहीं होने पर भी व्यक्ति उत्तेजित-हिंसक बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि परिस्थिति हिंसा का मूल कारण नहीं है, वह निमित्त कारण बन सकती है। मूल कारण है मनुष्य के निषेधात्मक भाव। इन्हें मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियाँ (Instinct) कहा जा सकता है। इन वृत्तियों (भावों) का परिष्कार ही हृदय परिवर्तन है।

भावनात्मक परिवर्तन में अनुप्रेक्षा के प्रयोगों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अनुप्रेक्षा में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते हैं, साथ-साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग — ये दोनों अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इनसे पुराने संस्कारों, अर्जित आदतों एवं निषेधात्मक भावों का नाश होता है। नए संस्कारों, नई आदतों और शुभ भावों का निर्माण होता है।

निषेधात्मक भावों का एक मुख्य कारण आहार भी है। आज व्यक्ति के आहार में वे पदार्थ अधिक हैं जो भावात्मक असंतुलन पैदा करते हैं। पहले कहा जाता था जैसा अन्न, वैसा मन। आज कहा जाता है जैसा आहार, वैसा न्यूरोट्रान्समीटर। जैसा न्यूरोट्रान्समीटर वैसा व्यवहार। हम जो भोजन करते हैं, उससे शरीर में अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं, मस्तिष्क में न्यूरोट्रान्समीटर बनते हैं, जो तन्त्रिका तन्त्र के संप्रेषक होते हैं। इनके द्वारा मस्तिष्क शरीर का संचालन करता है। भोजन के द्वारा अनेक विषैले तत्व भी शरीर में बनते हैं अतः किस प्रकार के भोजन से विषैले तत्व अधिक बनते हैं, इसका प्रशिक्षण भी आवश्यक है। जिस भोजन से विष अधिक बनता है, वह भावों को भी दूषित बनाता है। अतः भाव-परिवर्तन के लिए हिताहार और मिताहार का प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

22.4 दृष्टिकोण-परिवर्तन

अहिंसा-प्रशिक्षण का दूसरा आयाम है — दृष्टिकोण का परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह ही हिंसा के मुख्य कारण बनते हैं।

आज मनुष्य के भीतर अनेक मिथ्या धारणाएँ घर कर गई हैं। 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' उपनिषद् के इस वाक्य के आधार पर यह मान लिया गया कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। परिणाम

यह हुआ कि उसने यह मान लिया कि सारी सृष्टि उसके उपभोग के लिए है। वह भोक्ता है। इस मिथ्या दृष्टिकोण के कारण उसने आवश्यकता से अधिक प्रकृति का दोहन किया। प्रसाधन के लिए जीवित प्राणियों के अवयवों और चमड़े का उपयोग किया। पर्यावरण को प्रदूषित किया।

मानवीय संबंधों में आज जो कटुता दिखलाई दे रही है, उसका हेतु भी व्यक्ति का निरपेक्ष दृष्टिकोण है। निरपेक्ष चिन्तन का स्वरूप है—मैंने पीया, मेरे बैल ने पीया, अब चाहे कुआं ढह पड़े। लेकिन जहां सापेक्ष दृष्टिकोण होता है, वहां व्यक्ति सोचता है—मैं भूखा नहीं हूँ, पर यदि मेरा पड़ोसी भूखा है तो उसका परिणाम मेरे लिए अच्छा नहीं होगा। भूखा व्यक्ति चोरी करेगा, अपराध करेगा और मुझ पर भी आक्रमण करेगा अतः मुझे उसके प्रति निरपेक्ष नहीं बनना चाहिए।

जहाँ दृष्टिकोण मिथ्या होता है, वहाँ अपनी बात को सत्य मानने का आग्रह होता है और आग्रहयुक्त मनोवृत्ति साम्प्रदायिक उत्तेजना के लिए उत्तरदायी है।

सम्यक् दृष्टिकोण के प्रशिक्षण का उपाय है—अनेकान्त का प्रशिक्षण। अनेकान्त का प्रशिक्षण व्यक्ति को मिथ्या धारणा, निरपेक्ष चिन्तन और आग्रह से मुक्त करता है। परिवर्तन केवल जानने से नहीं होता। इसके लिए दीर्घकालिक अभ्यास अपेक्षित है। सम्यक् दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अभ्यास-अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है—

सिद्धान्त

प्रयोग

- | | |
|----------------|----------------------------|
| 1. सप्रतिपक्ष | सामंजस्य की अनुप्रेक्षा |
| 2. सह-अस्तित्व | सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा |
| 3. स्वतन्त्रता | स्वतन्त्रता की अनुप्रेक्षा |
| 4. सापेक्षता | सापेक्षता की अनुप्रेक्षा |
| 5. समन्वय | समन्वय की अनुप्रेक्षा। |

22.5 जीवनशैली-परिवर्तन

अहिंसा-प्रशिक्षण का तीसरा आयाम है—जीवनशैली का परिवर्तन। आज व्यक्ति अहिंसक बनना चाहता है किन्तु जीवनशैली को बदलना नहीं चाहता। अहिंसक बनने के लिए आवश्यक है परिग्रह का परिमाण करना और परिग्रह के परिमाण के लिए आवश्यक है भोगों पर नियंत्रण करना। अनियंत्रित भोग हिंसा को बढ़ावा देते हैं।

जीवनशैली को बदलने का एक महत्वपूर्ण सूत्र है—सुविधावादी जीवनशैली में परिवर्तन। सुविधावादी जीवनशैली प्रदूषण पैदा कर रही है। आज इस वैज्ञानिक युग में समाज सुविधा नहीं छोड़ सकता किन्तु वह असीम न बने—यह विवेक आवश्यक है। अहिंसक बनने के लिए आवश्यक है जीवनशैली में संयम को प्रतिष्ठा मिले, सुविधा को नहीं। वास्तव में संयम ही जीवन है और संयम से ही हिंसा का समाधान है।

अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक है जीवनशैली श्रम प्रधान और व्यसनो से मुक्त हो। श्रम किये बिना पैसा प्राप्त करने की मनोवृत्ति हिंसा और अपराध को बढ़ाती है। मादक द्रव्यों का सेवन भी अपराध चेतना को बढ़ाने में निमित्त बनती है।

इस प्रकार जीवनशैली के परिवर्तन के लिए संयम, श्रम, स्वावलम्बन एवं व्यसनमुक्त जीवन का सैद्धान्तिक प्रशिक्षण अपेक्षित है। अणुव्रत की आचार-संहिता का जीवनशैली के परिवर्तन में बहुत बड़ा आलम्बन है। इसके साथ-साथ निम्नलिखित अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास भी जीवनशैली के परिवर्तन के लिए अपेक्षित है—

- | | |
|-------------------------------|---------------------------------|
| 1. अहिंसा की अनुप्रेक्षा, | 2. सत्य, अचौर्य की अनुप्रेक्षा, |
| 3. ब्रह्मचर्य की अनुप्रेक्षा, | 4. इच्छापरिमाण की अनुप्रेक्षा, |
| 5. स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा, | 6. व्यसनमुक्ति के प्रयोग। |

22.6 आजीविका-शुद्धि और आजीविका प्रशिक्षण

अहिंसा-प्रशिक्षण का चौथा आयाम है—आजीविका-शुद्धि और आजीविका-प्रशिक्षण। मनुष्य के पास शरीर है, परिवार है अतः उसे उसका पोषण और संरक्षण भी करना पड़ता है। इसलिए उसके पास कोई-न-कोई आजीविका हो यह अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु हिंसा प्रधान आजीविका का निषेध होना चाहिए। ऐसे व्यापार, जिसमें महाहिंसा होती है, उनका वर्जन करना चाहिए, जैसे—जंगल कटवाना, मांस का विक्रय करना आदि। इस दृष्टि से सम्यक् आजीविका का प्रशिक्षण अहिंसा का महत्त्वपूर्ण पहलू बन जाता है। आजीविका प्राप्त करके भी उसे अनैतिक नहीं बनने देना भी अहिंसा का ही एक प्रयोग है। कुछ लोग अपनी आजीविका से इतना अधिक खर्च कर लेते हैं कि बहुत सारे गरीब लोगों को रोटी मिलना भी मुश्किल हो जाता है। इसलिए अहिंसा-प्रशिक्षण में आजीविका का सम्यक् प्रयोग जहाँ व्यक्ति को परिग्रह से मुक्त करता है, वहीं अन्य लोगों की आजीविका की रक्षा भी करता है।

22.7 सारांश

इस प्रकार अहिंसा-प्रशिक्षण के ये चार महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। हृदय-परिवर्तन से दृष्टिकोण का परिवर्तन होता है। दृष्टिकोण के परिवर्तन होने से जीवनशैली में परिवर्तन होता है। जीवनशैली में संयम की प्रतिष्ठा होने से आजीविका की शुद्धि होती है। अहिंसा में विश्वास रखने वाले सभी लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे स्वयं इनका प्रशिक्षण लें और दूसरों को भी प्रशिक्षण लेने की प्रेरणा प्रदान करें। इस प्रशिक्षण से निश्चित रूप से अहिंसा का वर्चस्व स्थापित हो सकता है। हिंसा के जितने कारण हैं, प्रशिक्षण और प्रयोगों के द्वारा उन कारणों को समाप्त करके अहिंसा का विकास किया जा सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने हिंसा के कारणों का निवारण करने के लिए उपर्युक्त अहिंसा-प्रशिक्षण के चार सूत्रों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। आवश्यकता है इनको समझकर इनका अभ्यास करने की।

22.8 बोध प्रश्न

1. अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम कौन-से हैं?
2. हृदय परिवर्तन से क्या तात्पर्य है?
3. सम्यक् दृष्टिकोण निर्माण हेतु किस सिद्धान्त को समझना आवश्यक है?

इकाई-23 : अहिंसा का अर्थशास्त्र

संरचना

- 23.1 अहिंसा का अर्थशास्त्र
- 23.2 अर्थशास्त्र की परिभाषा
- 23.3 आधुनिक अर्थशास्त्र का आधार
- 23.4 जैन दर्शन में अर्थशास्त्र
- 23.5 आर्थिक विकास कैसे करें
- 23.6 अर्थशास्त्र के तीन धटक
- 23.7 नई अर्थव्यवस्था के मानदण्ड
- 23.7 सारांश
- 23.8 बोध-प्रश्न

23.1 अहिंसा का अर्थशास्त्र

भगवान् महावीर आध्यात्मिक पुरुष थे, वे अर्थशास्त्री नहीं थे। अध्यात्म और अर्थशास्त्र का सीधा संबंध भी नहीं है। अध्यात्म का आधार जहां आत्मा है, वहीं अर्थशास्त्र का आधार पदार्थ (धन आदि) है। अर्थशास्त्र आर्थिक समृद्धि का शास्त्र है और अध्यात्म शान्ति का शास्त्र है। असीम आकांक्षा और शान्ति में कभी समझौता नहीं होता। महावीर ने अर्थशास्त्र के सिद्धान्त नहीं दिए किन्तु वे जानते थे कि दुनियां में सभी मनुष्य साधु नहीं बनेंगे, जो घर में रहकर साधना करेंगे उन श्रावकों का पथ-दर्शन करना भी अध्यात्म पुरुष का कार्य है इसलिए उन्होंने एक गृहस्थ के लिए महाव्रत की नहीं अणुव्रत की बात कही, पूर्ण त्याग की नहीं, सीमित भोग की बात कही, पूर्ण अपरिग्रह की नहीं, इच्छा परिमाण की बात कही। उन्होंने अणुव्रती समाज की कल्पना की और उनके लिए एक आचार-संहिता दी। उस आचार-संहिता से अर्थ-व्यवस्था के बहुत सारे सूत्र फलित होते हैं। महावीर यथार्थवादी थे। वे जानते थे कि भौतिकवाद से हटकर केवल अध्यात्मवाद के आधार पर जीवनयात्रा को नहीं चलाया जा सकता। इसलिए उन्होंने अनेकान्तवाद के आधार पर दोनों के समन्वित दृष्टिकोण पर बल दिया। आधुनिक अर्थशास्त्र भौतिकवाद के आधार पर ही विकसित हुआ अतः आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ समस्याओं का भी विस्तार हुआ। समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक है—जैन-दृष्टि से अर्थशास्त्र की अवधारणा को समझना।

23.2 अर्थशास्त्र की परिभाषा

अर्थशास्त्र में व्यक्ति के व्यावसायिक जीवन से सम्बन्धित उन कार्यों का अध्ययन किया जाता है, जो धन के उपार्जन और उपभोग से संबंधित हों। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया है—

- ▶ एडम स्मिथ के अनुसार 'अर्थशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है, जो राष्ट्रों की सम्पत्ति, प्रकृति एवं कारणों की जांच-पड़ताल से सम्बन्धित है। इस प्रकार यह धन का विज्ञान है।
- ▶ जे.बी.से. के अनुसार 'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है, जो धन का विवेचन करता है।'
- ▶ वाकर के शब्दों में 'अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है, जो धन से सम्बन्धित है।'

इन परिभाषाओं का निष्कर्ष यही है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय धन है। धन का अर्थ केवल भौतिक वस्तुओं से है और यही मानव सुख का आधार है।

आर्थिक क्रियाओं के आधार पर अर्थशास्त्र में तीन बातों पर मुख्य रूप से विचार किया जाता है—उत्पादन, वितरण और उपभोग।

मनुष्य जिन प्रवृत्तियों के द्वारा धन का उपार्जन करता है, उसका अध्ययन 'उत्पादन विभाग' में किया जाता है। विभिन्न साधनों के सहयोग से जिस धन का उत्पादन होता है, उसके वितरण का अध्ययन 'वितरण विभाग' में किया जाता है तथा 'उपभोग विभाग' के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए उनकी पूर्ति से सम्बन्धित नियमों का अध्ययन किया जाता है।

23.3 आधुनिक अर्थशास्त्र का आधार

आधुनिक अर्थशास्त्र के मुख्य तीन आधार हैं—इच्छा, आवश्यकता और मांग। इच्छा का क्षेत्र आवश्यकता से बड़ा है और आवश्यकता का क्षेत्र मांग से बड़ा है। सभी इच्छाएँ आवश्यकताएँ नहीं होती और सभी आवश्यकताएँ हमारी माँग नहीं होती। किन्तु अर्थशास्त्र में आर्थिक समृद्धि के लिए इच्छाओं, आवश्यकताओं को असीम बनाने पर बल दिया जाता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रमुख पुरुष केनिज ने कहा—“हमें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनाना है। इसके लिए नैतिक आचार और विचार का कोई मूल्य नहीं है। वह तो हमारे मार्ग में बाधक है। नैतिकता

पर विचार करना अर्थशास्त्रियों का कार्य नहीं है।” परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार, आतंकवाद जैसी अनेक समस्याएँ बढ़ी हैं, जिनके निवारण के लिए आवश्यक है—नई अर्थव्यवस्था के विषय में सोचना।

23.4 जैन दर्शन में अर्थशास्त्र

जैन दर्शन के अनुसार केवल गरीबी को मिटाने वाला अर्थशास्त्र हमारे लिए उपयोगी नहीं है। हमारे लिए वह अर्थशास्त्र उपयोगी है, जो गरीबी को भी मिटाए और साथ-साथ हिंसा का संवर्धन भी न करे। भगवान महावीर ने व्रती समाज की जो व्यवस्था दी, उसमें आर्थिक समृद्धि और अहिंसा की समृद्धि दोनों की समन्वित प्रणाली के तत्त्व हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र के केन्द्र में ‘अर्थ’ है और परिधि में ‘मनुष्य’ है। वहीं जैनदर्शन के अर्थशास्त्र में ‘मनुष्य’ केन्द्र में है और ‘अर्थ’ परिधि में है।

23.5 आर्थिक विकास कैसे करें

जैन दर्शन में आर्थिक विकास को अस्वीकार नहीं किया गया है। हर व्यक्ति चाहता है समाज में आर्थिक विकास हो, किन्तु प्रश्न है कि वह कैसे हो? आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आर्थिक विकास की बात करते समय निम्न तीन बिन्दुओं पर विचार अवश्य करना चाहिए—

- ▶ अहिंसा और साधन शुद्धि।
- ▶ मूल्यों का द्वास न हो।
- ▶ स्वार्थ की सीमा।

आर्थिक विकास करते समय अहिंसा और साधन-शुद्धि को गौण नहीं करना चाहिए। यदि एक साधारण व्यक्ति किसी अमीर व्यक्ति का अपहरण कर करोड़ रुपये की मांग करता है और करोड़पति बन जाता है, यहाँ आर्थिक विकास तो है पर करोड़पति बनने के लिए जो साधन अपनाए, वे अवांछनीय हैं अतः आर्थिक विकास के साथ अहिंसा और साधन-शुद्धि है या नहीं, इस बात पर भी विचार करना चाहिए।

1. अहिंसा और साधन-शुद्धि

आर्थिक विकास के साथ-साथ करुणा, दया, संवेदनशीलता आदि मूल्यों का विकास होना चाहिए। जहाँ इन मूल्यों का स्थान क्रूरता, छलना एवं अप्रामाणिकता ले लेती है, वहाँ आर्थिक विकास तो हो सकता है पर स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं हो सकता अतः आवश्यक है अर्थार्जन में मूल्यों का द्वास न हो।

3. स्वार्थ की सीमा

स्वार्थवृत्ति से सर्वथा नहीं बचा जा सकता है, किन्तु अर्थार्जन में उसकी एक सीमा होनी चाहिए। स्वार्थ इतना प्रबल न हो कि अपने आर्थिक विकास के लिए दूसरों के हित को हानि पहुँचाए।

23.6 अर्थशास्त्र के तीन घटक

अर्थशास्त्र में मुख्य रूप से तीन बातों पर विचार किया जाता है—उत्पादन, वितरण और उपभोग।

1. उत्पादन

भगवान महावीर के समय उत्पादन का मुख्य स्रोत कृषि था। कृषि के सन्दर्भ में उन्होंने एक गृहस्थ को मार्गदर्शन दिया कि कृषि में भी साधन-शुद्धि पर विचार हो। महावीर ने उत्पादन में साधन-शुद्धि के लिए पांच सूत्र दिए—

1. बंध न करना—कृषि का व्यवसाय करते समय बन्ध का प्रयोग मत करो। पशुओं को, मनुष्यों को बांधकर न रखो।
2. वध न करना—वध न करो। उन्हें पीटो मत, मारो मत, सताओ मत।

3. छविच्छेद न करना—छविच्छेद मत करो। उस युग में अंग-भंग करने का दण्ड भी विधान में था। महावीर ने कहा—अंग भंग मत करो।
4. अतिभार न लादना—मनुष्यों पर, पशुओं पर अतिभार मत लादो।
5. भक्तपान का विच्छेद न करना—आजीविका का विच्छेद मत करो, किसी का शोषण मत करो। अधिक श्रम लेकर पारिश्रमिक कम मत दो।

भगवान महावीर ने उत्पादन के सन्दर्भ में तीन निर्देश दिए—

- ▶ अहिंसप्ययाणे—हिंसक शस्त्रों का निर्माण नहीं करना।
- ▶ असंजुताहिकरणे—शस्त्रों का संयोजन नहीं करना।
- ▶ अपावकम्मोवदेसे—पाप कर्म का, हिंसा का प्रशिक्षण नहीं देना।

उत्पादन के सन्दर्भ में भगवान महावीर ने व्रती समाज के लिए उपर्युक्त जो विधान किए, वे अहिंसा और शान्ति के अर्थशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं।

उत्पादन का भी विवेक हो। हर चीज का उत्पादन न हो। अफीम, चरस, हेरोइन, ड्रग्स जैसी मादक वस्तुओं का, जो मनुष्य के लिए हर दृष्टि से हानिकारक है—उनका न उत्पादन हो और न सेवन हो।

2. वितरण

जैन दर्शन में वितरण के सन्दर्भ में भी अनेक निर्देश दिये गए हैं—

- ▶ कूट तोल-माप मत करो।
- ▶ वस्तु दिखाओ कुछ और दो कुछ, ऐसा मत करो।
- ▶ किसी की धरोहर का गबन मत करो।

भगवान महावीर ने श्रावक के लिए एक व्रत दियादिग्व्रत अर्थात् दिशा का परिमाण करो। अमुक दिशा में इतनी सीमा से आगे नहीं जाऊँगा। इस दिशा में इस सीमा से आगे मैं अपनी वस्तु का वितरण नहीं करूँगा।

3. उपभोग

दुनियाँ में प्रत्येक पदार्थ सीमायुक्त है। आज पदार्थ सीमित और इच्छा असीम है। वर्तमान की उपभोक्तावादी संस्कृति ने उपभोग को अनियंत्रित कर दिया है, जिससे हिंसा को नया आयाम मिला है। भगवान महावीर ने श्रावक के लिए भोगोपभोग व्रत की बात कही। उन्होंने उपभोग की पूरी एक सूची बना दी। ऐसी सूची, जो आज तक किसी अर्थशास्त्री ने नहीं बनाई। उस सूची का अगर आज अनुपालन हो तो गरीबी की समस्या का समाधान अपने आप हो सकता है। उस सूची के कुछ सूत्र ये हैं—

- ▶ वस्त्र-परिमाण।
- ▶ दंतवन-परिमाण।
- ▶ द्रव्य-परिमाण।
- ▶ जल-परिमाण।
- ▶ वाहन-परिमाण आदि।

श्रावक संकल्प करता है कि मैं इतने से ज्यादा वस्त्र नहीं रखूँगा। दंतौन का सीमित उपयोग करूँगा। इतने द्रव्यों से अधिक नहीं खाऊँगा। इतने से ज्यादा पानी का उपयोग नहीं करूँगा आदि।

आज का समाज यदि इन सारी वस्तुओं के उपभोग का सीमाकरण कर ले तो शायद पर्यावरण की समस्या, गरीबी की समस्या, उपभोग की समस्या और उत्पादन की समस्या का समाधान हो सकता है। इसके लिए आवश्यक

है अर्थशास्त्र के वर्तमान सिद्धान्तों में युगद्रष्टा महापुरुषों के उन विचारों का समावेश करें, जिनसे मानव कल्याण के लिए एक सर्वांगीण अर्थशास्त्र की रचना हो सके।

23.7 नई अर्थ-व्यवस्था के मानदण्ड

आधुनिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य गरीबी को मिटाकर आर्थिक समृद्धि को प्राप्त करना है, जिसके लिए साधन के रूप में लोभ, इच्छा, आवश्यकता और उत्पादन बढ़ाने की बात भी स्वीकृत है। जैन दर्शन के अनुसार हमारे लिए केवल गरीबी को मिटाने वाला अर्थशास्त्र उपयोगी नहीं है, अतः हमें नई अर्थव्यवस्था के विषय में सोचना चाहिए। इस सन्दर्भ में महावीर का दर्शन हमारे लिए दिशा-सूचक यन्त्र का कार्य कर सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने 'महावीर का अर्थशास्त्र' पुस्तक में नयी अर्थ-व्यवस्था के प्रवर्तन के लिए कुछ पैरामीटर निर्धारित किए हैं। उनके अनुसार नई अर्थव्यवस्था ऐसी हो, जो—

1. विश्वशान्ति के लिए खतरा न बने।
2. हिंसा को प्रोत्साहन न दे।
3. पदार्थ में अत्राण की अनुभूति जगाए।
4. अपराध में कमी लाए।

1. विश्वशान्ति के लिए खतरा न बने—नई अर्थव्यवस्था का पहला मानदण्ड यह है कि ऐसी अर्थव्यवस्था हो, जो विश्वशान्ति के लिए खतरा न बने। इस सन्दर्भ में महावीर का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—

जे लोयं अब्भाइक्खई से अत्ताणं अब्भाइक्खई।

जे अत्ताणं अब्भाइक्खई से लोयं अब्भाइक्खई।।

जो लोक का, जगत् का अस्तित्व अस्वीकार करता है, वह अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है और जो अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। व्यक्ति सृष्टि से जुड़ा हुआ है। इसलिए हमारा कोई भी चिन्तन विश्व को छोड़कर व्यक्ति के संदर्भ में न हो और न ही व्यक्ति को छोड़कर केवल विश्व के सन्दर्भ में हो। व्यक्ति और विश्व—दोनों के संदर्भ में हमारा चिन्तन, विचार और नीति का निर्धारण हो। ग्लोबल इकोनॉमी की नीति का निर्धारण करें तो इस बात का ध्यान रहे कि यह अर्थनीति विश्वशांति और व्यक्ति की शांति—दोनों की शांति के लिए खतरा न बने। नई अर्थनीति का यह पहला पैरामीटर है।

2. हिंसा को प्रोत्साहन न मिले—अर्थव्यवस्था का दूसरा मानदण्ड यह हो कि अर्थनीति हिंसा को प्रोत्साहन न दे। इसमें कोई मतभेद नहीं है कि जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा अनिवार्य है किन्तु नई अर्थनीति ऐसी बने जो अनावश्यक और आक्रामक हिंसा को प्रोत्साहन न दे। मनुष्य की ही नहीं, पृथ्वी, जल, वनस्पति तथा छोटे से छोटे प्राणी की भी अनावश्यक हिंसा न हो।

3. पदार्थ में अत्राण की अनुभूति—अर्थव्यवस्था का तीसरा मानदण्ड है—पदार्थ में अत्राण की अनुभूति। भगवान महावीर ने अशरण अनुप्रेक्षा के माध्यम से यह बताया कि कोई भी पदार्थ शरण नहीं है, त्राण नहीं है। व्यवहार में वह शरण बन सकता है किन्तु वास्तव में कोई भी पदार्थ अंतिम शरण नहीं है। अनित्य, अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास होने पर आन्तरिक परिवर्तन होता है, संवेगों पर नियन्त्रण होता है, जिससे व्यक्ति पदार्थ को जीवन का साधन मानता है, साध्य नहीं मानता। पदार्थ में त्राण की अनुभूति नहीं करता।

4. अपराध में कमी लाए—नई अर्थनीति का चौथा मानदण्ड है—नई अर्थव्यवस्था अपराध में कमी लाए। आज की आर्थिक अवधारणा ने व्यक्ति में इतनी लालसा पैदा कर दी कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए छोटे-बड़े अपराध करने में भी संकोच नहीं करता। इस अपराध चेतना की मनोवृत्ति का कारण है कि हमारी अर्थनीति में साधन-शुद्धि और नैतिक मूल्यों के संरक्षण पर विचार नहीं हुआ है। यह व्यक्ति का नहीं, व्यवस्था का दोष है। नई अर्थव्यवस्था में यह चिन्तन हो कि हमारी अर्थनीति अपराध में कमी लाए।

23.8 सारांश

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में यदि भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, शांति, साधन-शुद्धि, संयम आदि मूल्यों को आधुनिक अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के साथ जोड़ दिया जाए तो उत्पादन, वितरण और उपभोग के प्रति समाज के दृष्टिकोण में एक बड़ा परिवर्तन आ सकता है और गरीब एवं कमजोर वर्ग के लोगों की प्राथमिक आवश्यकताएँ भी पूरी हो सकती हैं।

23.9 बोध प्रश्न

1. जैन दर्शन के अर्थशास्त्र में केन्द्र और परिधि में क्या है?
2. आर्थिक विकास कैसे करना चाहिए?
3. नई अर्थव्यवस्था के मानदण्ड क्या हैं?

इकाई-24 : जैन दर्शन में पर्यावरण संतुलन

संरचना

- 24.1 पर्यावरण का अर्थ
- 24.2 पर्यावरण असंतुलन के कारण
- 24.3 पर्यावरण संतुलन के उपाय
- 24.4 षड्जीवनिकाय का संयम
- 24.5 वनस्पति का संयम
- 24.6 इच्छाओं का संयम
- 24.7 पदार्थों के भोग का संयम
- 24.8 यातायात का संयम
- 24.9 शस्त्रों का संयम
- 24.10 सारांश
- 24.11 बोध-प्रश्न

24.1 पर्यावरण का अर्थ

ब्रह्माण्ड के समस्त जीवधारियों के समुचित विकास एवं सुव्यवस्थित जीवनक्रम को चलाने के लिए संतुलित पर्यावरण की आवश्यकता होती है। पर्यावरण दो शब्दों परि + आवरण से मिलकर बना है। 'परि' का अर्थ है—चारों तरफ और आवरण का अर्थ है—घेरा। प्रकृति में जो भी हमारे चारों तरफ परिलक्षित होता है, वह पर्यावरण है। पर्यावरण शब्द का तात्पर्य भूतल के समस्त भौतिक प्रभावों, जैसे—ताप, जल, वायु तथा जैविक प्रभावों से होता है। प्रकृति के अन्तर्गत जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, वह पर्यावरण का एक अंग है अर्थात् वायु, जल, मृदा, पहाड़, समुद्र, पेड़-पौधे एवं जीव-जन्तु सभी सम्मिलित रूप से पर्यावरण की रचना करते हैं।

24.2 पर्यावरण असंतुलन के कारण

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का महत्त्व शुरू से ही रहा है। प्रारम्भ में मानव पर्यावरण के साथ अंगीभूत था। उसने प्रकृति के साथ अपना समन्वय बैठा रखा था तथा कभी भी उसमें परिवर्तन की चेष्टा नहीं की थी। बीसवीं सदी के आते-आते मानव के द्वारा भौतिक, आर्थिक एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अप्रत्याशित गति करने

की चेष्टा ने पर्यावरण को प्रदूषित कर एक समस्या को पैदा कर दिया। आज पूरा विश्व इससे चिंतित है, समाधान ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा है।

पर्यावरण असंतुलन के अनेक कारणों को यदि जैन दर्शन की दृष्टि से एक शब्द में कहा जाए तो वह है—असंयम। भगवान महावीर ने सतरह प्रकार के संयम की बात कही। उनमें जीव संयम और अजीव संयम दोनों प्रकार के संयम को महत्त्व दिया गया। जो इनका संयम नहीं करता वह पर्यावरण को तो प्रदूषित करता ही है किन्तु स्वयं के भी अबोध और अहित का कारण बनता है। असंयम के अतिरिक्त पर्यावरण असंतुलन के अन्य निम्नलिखित कारण हैं—

1. प्राकृतिक संसाधनों का अभाव।
2. प्रकृति का अत्यधिक दोहन।
3. कृत्रिम आवश्यकताएँ।
4. उपभोक्तावादी संस्कृति।
5. लोभ की प्रवृत्ति।
6. सुविधावादी मनोवृत्ति।
7. विकास के भ्रामक मापदण्ड आदि।

24.3 पर्यावरण संतुलन के उपाय

आज विश्व में असंतुलित पर्यावरण की गंभीर समस्या समाज के सभी वर्गों के लोगों को सोचने के लिए मजबूर कर रही है। ऐसी आशंका व्यक्त की जा रही है कि इस क्षेत्र में यदि प्रभावी कदम नहीं उठाए गए तो आने वाले वर्षों में मनुष्य के लिए जिन्दा रहना भी मुश्किल हो जाएगा। मानव-विकास के लिए स्वच्छ एवं संतुलित पर्यावरण की महत्ती आवश्यकता है।

भगवान महावीर ने 2600 वर्ष पूर्व जो जीने का दर्शन दिया, उसमें पर्यावरण संतुलन और सृष्टि संतुलन की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध होते हैं। भगवान महावीर अहिंसा के प्रयोक्ता थे। उन्होंने अहिंसा को अनेक पहलुओं से देखा। उनमें एक पहलु है—पर्यावरण विज्ञान।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति को जहाँ अन्य दर्शनों में पंचभूत के रूप में स्वीकार किया गया, वहीं वैदिक परम्परा में इन्हें देव माना गया। भगवान महावीर ने एक नई और मौलिक अवधारणा दी और कहा—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति—ये सब जीव हैं। इनके अस्तित्व को अस्वीकार करने वाला अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है। इनके अस्तित्व को स्वीकार करने वाला ही पर्यावरण के साथ न्याय कर सकता है।

24.4 षड्जीवनिकाय का संयम

जैन दर्शन में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति को जीव माना गया है। ये सभी मिलकर पर्यावरण की रचना करते हैं तथा संतुलन बनाये रखने के लिए एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किसी एक तत्त्व के असंतुलन से समूचा पर्यावरण प्रभावित होता है। अतः भगवान महावीर ने कहा—विवेकी मनुष्य, पृथ्वी, पानी आदि की हिंसा के परिणाम को जानकर न स्वयं इनकी हिंसा करे, न दूसरों से इनकी हिंसा करवाएँ और न ही हिंसा करने वालों का अनुमोदन करें। पृथ्वी, पानी आदि की हिंसा करने वाला केवल इनकी ही हिंसा नहीं करता अपितु इनके आश्रित अनेक त्रस जीवों की भी हिंसा करता है। इन षड्जीवनिकायों की हिंसा नहीं करने के सन्दर्भ में जैन दर्शन के जो निर्देश हैं, वे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने की दृष्टि से सर्वाधिक मूल्यवान हैं।

आज अनेक प्रकार के खनिज पदार्थों के लिए पृथ्वीकाय की हिंसा की जाती है। वैज्ञानिकों ने यह आशंका व्यक्त की है कि इसी प्रकार यदि पृथ्वी का दोहन होता रहा तो ये भण्डार कुछ ही समय में समाप्त हो जाएँगे।

हजारों मिलियन कचरा, मल आदि जल में फेंका जा रहा है, जिससे जलकाय की तो हिंसा होती ही है किन्तु उससे वह जल भी प्रदूषित होता है। जल में रहने वाले जीव, जैसे मछली एवं अन्य प्राणी उस प्रदूषण से प्रभावित होते हैं। उन्हीं जंतुओं का प्रयोग जब मनुष्य खाने के लिए करता है तो वह विषाक्त भोजन अनेक बीमारियों का कारण बनता है।

अग्निकाय का असंयम करने से ऊर्जा के स्रोत कम हो रहे हैं। इससे उद्योग, चिकित्सा आदि सभी क्रियाकलाप प्रभावित हो रहे हैं। वायु प्रदूषण में भी अग्निकाय का असंयम ही अधिक निमित्त बन रहा है। प्रमुख वैज्ञानिक श्री टी.एम. दास का कहना है कि यह वायुमण्डलीय प्रदूषण केवल मानव के लिए ही नहीं अपितु प्राणी मात्र के लिए हानिकारक है। इस प्रकार पृथ्वी, जल आदि की हिंसा आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं, पर्यावरण की दृष्टि से भी अवांछनीय है।

24.5 वनस्पतिकाय का संयम

आचारांग सूत्र में वनस्पति और मनुष्य के जीवन में बहुत सारी समानताओं का उल्लेख कर उनकी हिंसा से विरत रहने का निर्देश दिया गया है। प्रकृति की दृष्टि में एक पौधे का जीवन भी उतना ही मूल्यवान है जितना एक मनुष्य का है। पेड़-पौधे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने में जितने सहायक हैं, उतने मनुष्य नहीं हैं, वे तो पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं। वृक्षों एवं वनों के संरक्षण तथा वनस्पति के दुरुपयोग से बचने के लिए प्राचीन जैन साहित्य में अनेक निर्देश दिये गए हैं। मुनि के लिए तो हरित-वनस्पति को काटने एवं तोड़ने की बात तो दूर उसे स्पर्श करने का भी निषेध है। श्रावक के लिए भी वनस्पति के यथाशक्ति सीमित उपयोग का निर्देश है। वनों को काटना, वनों में आग लगाना आदि क्रियाओं में महापाप माना गया है क्योंकि उसमें न केवल वनस्पति की हिंसा होती है, अपितु अन्य वन्य-जीवों की भी हिंसा होती है और पर्यावरण भी प्रदूषित होता है। वन (जंगल) वर्षा और पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के अनुपम साधन है।

24.6 इच्छाओं का संयम

पर्यावरण संतुलन का एक महत्वपूर्ण उपाय है—इच्छाओं का संयम। भगवान महावीर ने कहा—व्यक्ति की इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं, वे कभी पूरी नहीं होती। व्यक्ति की आवश्यकताएँ सीमित हैं पर असीम इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह प्रकृति के साथ छेड़छाड़ करता है। परिणामस्वरूप पर्यावरण असंतुलित होता है। प्रकृति में इतनी क्षमता है कि वह संसार के सभी प्राणियों का भरण-पोषण कर सकती है पर प्रकृति में इतनी क्षमता नहीं है कि वह एक भी मनुष्य की इच्छाओं को पूरा कर सके। इच्छाओं पर नियंत्रण पाने के लिए भगवान महावीर ने श्रावक के बारह व्रतों में इच्छा परिमाण-व्रत की बात कही। इच्छा जहाँ पर्यावरण को असंतुलित बनाती है, वहीं व्यक्ति को भी दुःखी बनाती है।

24.7 पदार्थों के भोग का संयम

तीव्रता से बढ़ती हुई उपभोक्तावादी संस्कृति ने भी पर्यावरण को असंतुलित किया है। उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण जीवन के आवश्यक स्रोतों का इतनी तीव्रता से और इतनी अधिक मात्रा में दोहन हो रहा है कि प्राकृतिक स्रोत समाप्त होते जा रहे हैं। इस सन्दर्भ में आज भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित 'भोगोपभोग परिमाण व्रत' की प्रासंगिकता को नकारा नहीं जा सकता।

प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में पदार्थों के भोग की सीमा कर ले तो काफी सीमा तक पर्यावरण की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

24.8 यातायात का संयम

पर्यावरण-प्रदूषण में धूम्र छोड़ने वाले वाहनों का प्रयोग भी एक प्रमुख कारण है। आज व्यक्ति को दस कदम भी चलना हो तो वह वाहन की अपेक्षा रखता है, पैदल चलना पसन्द नहीं करता। यदि दो-चार किलोमीटर चलने

में अथवा अपने दैनन्दिन कार्यों में वाहन का प्रयोग न करें, अनावश्यक यातायात की भी सीमा करें तो इससे दोहरा लाभ हो सकता है। एक ओर ईंधन एवं तत्संबंधी खर्च से बचाव होता है तो दूसरी ओर पर्यावरण प्रदूषित होने से बचता है। भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित दिग्ब्रत का आशय भी यही है कि अनावश्यक यातायात का संयम हो।

24.9 शस्त्रों का संयम

इस प्रकार भगवान महावीर ने संयम के जो सूत्र दिये वे पर्यावरण संतुलन की दृष्टि से भी पठनीय, मननीय, चिन्तनीय और आचरणीय हैं। वे सूत्र हैं—इच्छाओं का संयम करो, पदार्थों के व्यक्तिगत भोग का संयम करो। मैत्री, अहिंसा, अपरिग्रह की चेतना का विकास करो। अनर्थ हिंसा, महारंभ, महापरिग्रह से बचो। उन्होंने ऐसे औद्योगिक प्रतिष्ठानों एवं उत्पादनों को भी उचित नहीं ठहराया, जिनके कारण प्रदूषण फैलता हो या समाज में आर्थिक विकृतियाँ जन्म लेती हों। उन्होंने बारह व्रतात्मक एक ऐसी जीवनशैली का प्रारूप प्रस्तुत किया, जिसके आचरण से समाज, देश, राष्ट्र का ही नहीं सम्पूर्ण विश्व का पर्यावरण संतुलित रह सकता है।

24.10 सारांश

इस प्रकार पर्यावरण प्रदूषण आज की एक प्रमुख समस्या है, जिसके अनेक कारणों में एक महत्वपूर्ण कारण है—असंयम। जैन दर्शन में संयम की अवधारणा न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से अपितु पर्यावरण संतुलन की दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

24.11 बोध प्रश्न

1. पर्यावरण किसे कहते हैं?
2. पर्यावरण असंतुलन के कारण क्या हैं?
3. षड्जीवनिकाय के नाम लिखें।

इकाई-25 : शाकाहार

संरचना

- 25.1 आहार कैसा हो
- 25.2 शाकाहार पर बल क्यों?
- 25.3 शाकाहार : पर्यावरण रक्षक आहार
- 25.4 मांसाहार निषेध के कारण
- 25.5 सारांश
- 25.6 बोध-प्रश्न

स्वस्थ एवं शतायु जीवन जीने की चाह संपूर्ति का महत्वपूर्ण साधन है—आहार। मनुष्य के लिए उत्तम आहार वही है, जो उसे आधि, व्याधि एवं उपाधि से दूर स्वस्थ मन एवं स्वस्थ शरीर के निर्माण में सहायक बनता हो। इस दृष्टि से मनुष्य के आहार पर ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका व्यवहार और आचार होता है।

25.1 आहार कैसा हो

हमारा आहार कैसा हो, इस प्रश्न पर समूचे विश्व में अनेक दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श हुआ है। जैन दर्शन में भी इस पर बहुत विचार किया गया है। जिस आहार से शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य, भावनात्मक स्वास्थ्य

अच्छा रहे, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की भावना बलवती रहे तथा चित्त-वृत्तियों का शोधन हो, वही आहार करणीय है। इसी दृष्टि से जैन दर्शन में मांसाहार का निषेध कर शाकाहार और सात्विक आहार पर बल दिया गया है।

25.2 शाकाहार पर बल क्यों?

जैन आहार का मूल आधार अहिंसा है। हमें वही आहार ग्रहण करना चाहिए जो पूर्णतः अहिंसक हो। यदि यह संभव न हो तो जिसमें कम से कम हिंसा हो, वैसा आहार करना चाहिए।

जैन दर्शन के अनुसार त्रस जीवों के शरीर के अंश का नाम ही मांस है। दो इन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं। ऐसा मांसाहार वर्जित है, क्योंकि मांस में निरन्तर ही त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। अतः उसे अभक्ष्य माना गया है। जैनाचार में पांच प्रकार के अभक्ष्य बतलाये गए हैं—1. त्रसघातमूलक, 2. बहुघातमूलक, 3. नशाकारक, 4. अनुपसेव्य, 5. अनिष्ट।

आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में अहिंसा व्रत के सन्दर्भ में अनेक युक्तियाँ देकर मांसाहार का निषेध किया है। वहाँ कच्चे मांस, पकाये हुए मांस, स्वयंमृत पशु के मांस, मारकर प्राप्त हुए मांस, शाकाहारी और मांसाहारी पशु के मांस सेवन का विस्तार से निषेध किया गया है।

25.3 शाकाहार : पर्यावरण रक्षक आहार

शाकाहार स्वाभाविक प्राकृतिक आहार है। जीवाश्म विज्ञानी डॉ. एलनवॉकर (मैरीलैंड जानहीपकिंस विश्वविद्यालय) की वर्षों की खोज का निष्कर्ष है कि मनुष्य का अस्तित्व पन्द्रह करोड़ वर्ष प्राचीन है तथा प्रारम्भ के चौदह करोड़ पचानवे लाख वर्षों तक मनुष्य ने फल-फूल, कंद-मूल, पत्तों आदि खाकर ही उदरपूर्ति की।

शाकाहार का 'शा' शान्ति का, 'का' कान्ति का, 'हा' हार्द (स्नेह) का और 'र' रक्षा का परिचायक है। शाकाहार हमें शान्ति का जीवन देकर हमारे चेहरे की कान्तिवृद्धि में सहायक होता है, जिससे हम स्नेह की धारा बहा अपने जीवन को रसमय बना सकते हैं। "मैं अपने उदर की पूर्ति वनस्पतिक तथा अहिंसक आहार से करूँगा तथा अपने भोज्य व अन्य उपयोग के लिए मूक प्राणियों का वध नहीं करूँगा।" प्रत्येक व्यक्ति के मात्र इस एक व्रत से सम्पूर्ण पर्यावरण प्रभावित होता है। अतः शाकाहार न केवल स्वास्थ्यवर्धक आहार ही है अपितु पर्यावरण रक्षक आहार भी है।

25.4 मांसाहार निषेध के कारण

मांसाहार क्यों नहीं करना चाहिए, इसके लिए जैन दर्शन में अनेक कारण बताये गए हैं। वे कारण निम्नलिखित हैं—

1. मांसाहार हिंसा का कारण है

जैन दर्शन का केन्द्र बिन्दु अहिंसा है। मांसाहार निषेध के पीछे भी मुख्य कारण अहिंसा है। मांस खाने से जीवों की हिंसा होती है, क्योंकि मांस के लिए प्राणी का घात करना पड़ता है। अहिंसा की चेतना 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' सब जीवों को अपने समान मानने से विकसित होती है। अतः हमें वही आहार करना चाहिए, जिसमें कम से कम हिंसा हो।

2. मांसाहार विकृति का कारण है

सामान्यतया यह माना जाता है कि जैसा आहार, वैसा व्यवहार और आचार। मांसाहार से व्यक्ति के चरित्र का दरास होता है। अच्छे चरित्र की आवश्यक शर्तों में मांसाहार त्याग भी एक शर्त है। जिस व्यक्ति का चरित्र अच्छा होता है, वही उत्तम और श्रेष्ठ पुरुष बन सकता है तथा दुखों से मुक्त हो सकता है। मांस हमारे चरित्र को विकृत करने के कारण अभक्ष्य और निन्द्य है।

3. मांसाहार नरक का कारण है

जैन दर्शन में नरक गति के चार कारण बताये गए हैं—

1. महाआरम्भ—निरन्तर हिंसा में रत रहना।
2. महापरिग्रह—अत्यधिक आसक्ति रखना।
3. पंचेन्द्रिय वध—पंचेन्द्रिय प्राणियों को मारना।
4. मांसाहार—मांसभक्षण करना।

इन चार कारणों में मांसाहार भी नरक गति का एक कारण है। ऐसा माना जाता है मांस खाना एक बुरा कर्म है। मांस खाने से उसको नरक मिलता है और नरक में उसका मांस खाया जाता है, वहाँ उसे अत्यधिक दुःख एवं कष्ट मिलता है।

4. मांसाहार एक व्यसन है

जैन दर्शन में सात व्यसन माने गए हैं। उनमें मांस-भक्षण भी एक व्यसन है। व्यसन दुःख के कारण हैं अतः उन्हें त्याज्य बताया गया है। मांस-भक्षण से दर्प बढ़ता है, दर्प से शराब पीने की इच्छा होती है, शराब पीकर व्यक्ति जुआ, वेश्या, परस्त्री आदि का सेवन करता है, जिससे दुःख की प्राप्ति होती है। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि इनके सेवन से दुःख नहीं अपितु सुख की प्राप्ति होती है अतः ये त्याज्य कैसे हैं? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि जैसे इनके सेवन से सेवन करने वालों को सुख मिलता है, वैसे ही अन्य जीवों को, जिनका घात किया जाता है, उनको दुःख भी होता है। जैसे हम सुख चाहते हैं, वैसे ही दूसरे प्राणी भी सुख चाहते हैं अतः दूसरों के प्रति भी वैसा ही व्यवहार करें, जैसा हम दूसरों से चाहते हैं। मांस-भक्षण एक व्यसन है तथा जीवों को दुःख और पीड़ा भी पहुँचाता है अतः मांसाहार त्याज्य है।

5. मांसाहार विभिन्न रोगों का जन्मदाता है

वैज्ञानिक खोजों से आज यह प्रमाणित हो चुका है कि मांसाहार शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिकारक है। शाकाहार में तंतुमय पदार्थ अधिक होते हैं। उनसे पेट को साफ रखने में मदद मिलती है। शरीर में विषाक्त पदार्थों का जमाव नहीं होता, जिसके कारण बीमारियाँ कम होती हैं जबकि मांसाहार के सेवन से अनेक असाध्य बीमारियों को निमंत्रण मिलता है।

हृदयरोग एवं उच्च रक्तचाप

हृदयरोग का मुख्य कारण है रक्त-वाहिनियों की भीतरी दीवारों पर कोलेस्टेरॉल की तहों का जमना। अण्डों में सबसे अधिक कोलेस्टेरॉल होता है। मांस एवं जानवरों से प्राप्त वसा में भी काफी मात्रा में होता है। जो व्यक्ति मांस या अण्डे खाते हैं, उनके शरीर में 'रिस्पटरो' की संख्या में कमी हो जाती है, इससे रक्त के अन्दर कोलेस्टेरॉल की मात्रा अधिक हो जाती है। इससे हृदयरोग, गुर्दे के रोग एवं पथरी जैसी बीमारियों को बढ़ावा मिलता है।

मांसाहार से कैंसर

सभी प्राणियों के शरीर में विषैले पदार्थ तैयार होते हैं। वे केवल मल-मूत्र द्वारा ही शरीर से बाहर निकल सकते हैं। जब कोई जानवर मारा जाता है और यदि उसके मांस में ऐसे पदार्थ रह जाँएँ तो उनके बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं रह जाता। हृदय की क्रिया बंद होने के बाद शरीर के सारे अवयव पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाते हैं अतः मृत जानवरों के मांस में विषैले पदार्थ भारी मात्रा में जमा रह जाते हैं। जो व्यक्ति उसे खाता है, वह सारा विषैला तत्त्व उसके शरीर में पहुँच जाता है, जिससे कैंसर जैसी बीमारी हो जाती है। आँतों का अल्सर, अपैन्डिसाइटिस, आँतों और मलद्वार का कैंसर रोग शाकाहारियों की अपेक्षा मांसाहारियों में अधिक पाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मांसाहार से अनेक असाध्य रोगों की संभावना बनी रहती है, जैसे—मिर्गी, गुर्दे की बीमारियाँ, गठिया, त्वचा के रोग, एग्जीमा, मुँहासे आदि। अतः मांसाहार नहीं करना चाहिए।

प्रकृति ने मनुष्य की शरीर रचना हाथ, पांव, दांत, आँतों की बनावट तथा खाने-पीने का ढंग मांसाहारी जीवों से भिन्न शाकाहारी पशुओं—गाय, घोड़ा, ऊँट आदि के समान की है अतः उसे शाकाहार करना चाहिए।

शाकाहार अधिक पौष्टिक एवं गुणकारी आहार है। इसका प्रमाण हाथी, घोड़ा, बैल, ऊँट आदि सभी पशु शाकाहारी हैं और वे शक्ति सम्पन्न भी हैं। शाकाहारी पदार्थों में प्रोटीन एवं अन्य स्वास्थ्य वर्धक तत्व पर्याप्त मात्रा में होते हैं। फाइबर की मात्रा तथा विटामिन्स भी मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार में अधिक हैं अतः शाकाहार करना चाहिए।

आर्थिक दृष्टि से भी शाकाहार सस्ता है। मांस के द्वारा एक किलोग्राम प्रोटीन प्राप्त करने के लिए पशु को सात से आठ किलोग्राम तक प्रोटीन खिलाना पड़ता है। एक मांसाहारी में लगे अर्थ व्यय से 20 शाकाहारी का भोजन हो सकता है।

25.5 सारांश

मांसाहार से मस्तिष्क की सहनशीलता एवं स्थिरता का ह्रास होता है। वासना एवं उत्तेजना बढ़ती है। क्रूरता एवं निर्दयता भी बढ़ती है। परिणामतः नैतिकता और आध्यात्मिकता का पतन होता है।

जैन धर्म अहिंसा पर आधारित है। जहाँ जानवरों को बांधना, दुःख पहुँचाना, मारना, अधिक भार लादना भी पाप माना जाता है, वहाँ मांसाहार का तो प्रश्न ही नहीं हो सकता। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मांसाहार में हिंसा होने के कारण, क्रूरता उत्पन्न होने के कारण, नरक देने वाला होने के कारण, असाध्य रोगों का जनक होने के कारण त्याज्य है तथा शाकाहार अध्यात्म एवं व्यवहार दोनों दृष्टियों से उपयोगी है।

25.6 बोध प्रश्न

1. आहार कैसा होना चाहिए?
2. शाकाहार पर बल क्यों दिया गया है?
3. मांसाहार निषेध के क्या कारण हैं?

अभ्यास प्रश्नावली

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन कब हुआ?
2. क्या अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है?
3. जैन दर्शन जन्मना जाति में विश्वास करता है या कर्मणा जाति में?
4. पर्यावरण के प्रति जागरूक रहना क्यों आवश्यक है?
5. अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम कौन-से हैं?
6. अनेकान्त के प्रमुख पक्ष क्या हैं?
7. जीवनशैली में परिवर्तन के लिए कौन-सी अनुप्रेक्षाएँ अपेक्षित हैं?
8. किस प्रकार के व्यवसाय नहीं करने चाहिए?
9. आर्थिक विकास करते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?
10. अपने अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए क्या दूसरों का अस्तित्व स्वीकार करना अपेक्षित है?
11. नरक गति में जाने के कारण क्या हैं?
12. मांसाहार का निषेध क्यों किया जाता है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अणुव्रत के लक्ष्य को स्पष्ट करें।
2. अणुव्रत के निदेशक तत्त्वों पर प्रकाश डालें।
3. अणुव्रत की आचार-संहिता लिखें।
4. हृदय-परिवर्तन कैसे संभव है?
5. नई अर्थव्यवस्था कैसी हो?
6. शाकाहार क्यों करना चाहिए?
6. पर्यावरण असंतुलन के क्या कारण हैं?

निबंधात्मक प्रश्न

1. अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात क्यों किया गया तथा यह क्या है? विवेचन करें।
2. स्वस्थ समाज की संरचना में अणुव्रत की क्या भूमिका है?
3. अणुव्रत आचार संहिता की प्रासंगिकता का विवेचन करें।
4. अहिंसा-प्रशिक्षण के विविध आयामों पर प्रकाश डालें।
5. शाकाहार पर एक निबन्ध लिखें।
6. पर्यावरण असंतुलन के कारण बताते हुए संतुलन के उपायों को बताएँ।

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

यकमुप&341306 ¼ktLFkku½

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



वाणिज्य स्नातक-तृतीय वर्ष
Bachelor of Commerce (Third Year)

प्रथम पत्र
(Paper-I)

जैन संस्कृति एवं जीवन मूल्य-भाग-२
(Jain Culture and Values of Life Part-II)

COPYRIGHT

Jain Vishva Bharati University, Ladnun

Written By :

Dr. Samani Riju Prajna

Edition : 2011

Printed Copies : 250

l 0x1	
l 0x&1	tŭ n'kŭ ds i æ[k fl) kŭr
l 0x&2	tŭ rŭo ,oa vkpkj ehkd k
l 0x&3	thou foKku vŭj eŭ; fodkl
l 0x&4	v.kpr vkŭnkŭy

अनुक्रम

	पृष्ठ संख्या
संवर्ग-1 जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त	01-32
इकाई-1 : अहिंसा	02
इकाई-2 : अपरिग्रह	08
इकाई-3 : अनेकान्त	11
इकाई-4 : आत्मवाद	15
इकाई-5 : कर्मवाद	21
इकाई-6 : पांच समवाय	28
संवर्ग-2 जैन तत्त्व एवं आचार मीमांसा	33-65
इकाई-7 : सत् का स्वरूप	34
इकाई-8 : लोकवाद	38
इकाई-9 : जैन आचार : आधार और स्वरूप	41
इकाई-10 : नव तत्त्व, रत्नत्रय	46
इकाई-11 : श्रमणाचार	55
इकाई-12 : जैन जीवनशैली, पांच ज्ञान, प्रमाण	61
संवर्ग-3 जीवन विज्ञान और मूल्य विकास	66-95
इकाई-13 : जीवन विज्ञान : उद्भव और विकास	67
इकाई-14 : जीवन विज्ञान : संतुलित शिक्षा प्रणाली	72
इकाई-15 : जीवन विज्ञान के सात अंग	75
इकाई-16 : जीवन विज्ञान के सोलह मूल्य	81
इकाई-17 : अनुप्रेक्षा : मूल्य विकास की प्रक्रिया	86
इकाई-18 : आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण	90
संवर्ग-4 अणुव्रत आन्दोलन	96-122
इकाई-19 : अणुव्रत आन्दोलन	97
इकाई-20 : अणुव्रत : स्वास्थ्य समाज संरचना का आधार	100
इकाई-21 : अणुव्रत : आचार संहिता	103
इकाई-22 : अहिंसा प्रशिक्षण	107
इकाई-23 : अहिंसा का अर्थशास्त्र	110
इकाई-24 : शाकाहार	115
इकाई-25 : पर्यावरण संतुलन के उपाय	118